गीता मकरंद

भाग - 4

श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी

हिन्दी रूपांतरकार

श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति

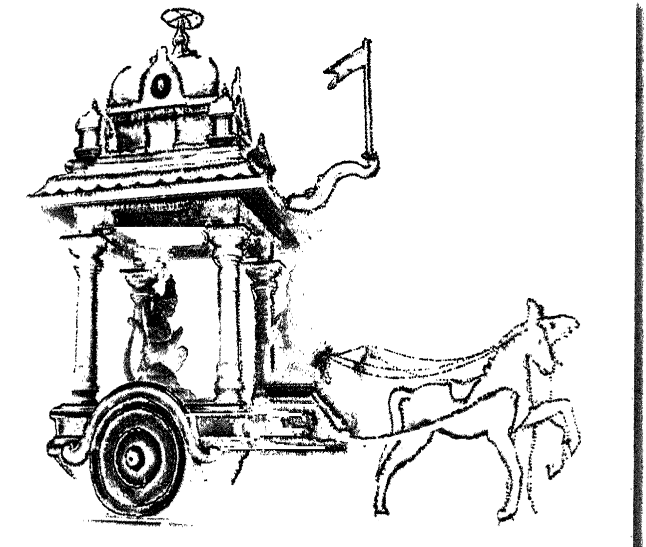

तिरुमल तिरुपति देवस्थान, तिरुपति

2003

गीता मकरंद

श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी

द्वारा तेलुगु में विरचित

चौथा भाग

(अध्याय : तेरह, चौदह, पन्द्रह, सोलह, सत्रह, अठारह)

हिन्दी रूपांतरकार

श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति

तिरुमल तिरुपति देवस्थान, तिरुपति।

2003

GITA MAKARAND Vol - 4

(A Commentary on Bhagavad Gita Chapters 13 to 18)

by

Sri Sri Sri Vidya Prakashananda Giri Swamy

Hindi Translation
Vemuri Radhakrishna Murthy

T.T.D. Religious Publications Series No. 237

All Rights Reserved.

First Edition : 2003

Copies: 2000

Published by:
Sri Ajeya Kallam, I.A.S.
The Executive Officer,
Tirumala Tirupati Devasthanams,
Tirupati - 517 501

Laser Typesetted at:
Annapurna Graphics
53/4 R.S. Gardens, Tirupati
Ph: 2235006

Printed at :
Sowbhagya Printers
Warangal - 506 002.

प्रस्तावना

भारतीय सनातन संस्कृति में श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वेद, उपनिषद्, पुराण आदि प्राचीन पवित्र ग्रन्थों का सार ही भगवद्गीता का विषय है। धर्माचरण ही इसका मुख्य लक्ष्य है। धर्मक्षेत्र में पांडवों और कौरवों के बीच में होनेवाले महासंग्राम में संशयग्रस्त व दुःखित महावीर अर्जुन के संशय व संदेहों का निवारण कर, परब्रह्म श्रीकृष्ण ने अपने उपदेशों द्वारा, कर्तव्योन्मुख किया है। इसमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, आत्मा व परमात्मा आदि तत्त्वों का समग्र विश्लेषण मिलता है।

आज के मानव की जीवन-शैली भी अस्त-व्यस्त है। युद्धक्षेत्र में स्थित धर्मभीरु अर्जुन के मन के जैसे, मानव का मन भी संशयोद्वेलित हो, किं कर्म किमकर्मेति' परिस्थितियों में आज का मानव किंकर्तव्य विमूढ हो रहा है। केवल गीता का पाठ और मनन करने से वह इन बाधाजनक परिस्थितियों से बच सकता है। फिर गीता के उपदेशों का आचरण कर, वह कर्तव्योन्मुख होकर, सुख व शांतिमय जीवन बिता सकता है।

दक्षिण काशी के नाम से विख्यात सुवर्णमुखी नदी तट पर स्थित 'श्रीकाळहस्ती' पुण्यक्षेत्र में श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी 'शुक ब्रह्माश्रमम्' की स्थापना कर, लोक कल्याणार्थ आध्यात्मिक कार्य किया करते थे। उन्होंने अपने जीवन काल में राज्य भर में विस्तृत पर्यटन कर, गीत का प्रवचन सरल व सुबोध तेलुगु में प्रवचन देते हुए पंडित व पामरों के अज्ञानांधकार को दूर करने का सफल प्रयास किया। इसीलिए तेलुगु भाषा-भाषी इनके व्याख्यानों से अधिक प्रभावित हो गये है। फिर स्वामीजी "गीता मकरंद" नामक बृहद् ग्रंथ को तेलुगु में प्रकाशित कर चिरस्मरणीय बन गये हैं। इस ग्रंथ की लोकप्रियता को देखकर, तिरुमल तिरुपति देवस्थान ने हिन्दी भाषा-भाषियों को भी इसका परिचय कराने का निर्णय किया है।

इस 'गीता मकरंद' ग्रंथ के प्रारंभ में मूल श्लोक, हर शब्द का अर्थ, तात्पर्य एवं व्याख्या के अलावा गीता के पाठकों के लिए अत्यावश्यक अनेकानेक विषयों का समावेश किया गया है। वराह पुराण के अन्तर्गत उल्लिखित गीता माहात्म्य के

अलावा, स्कांद पुराण, महाभारत और वैष्णवीय तंत्रसार आदि में वर्णित गीता माहात्म्य भी तात्पर्य सहित दिया गया है। गीता के जप की पद्धति एवं पारायण का विधान स्पष्ट रूप से दिया गया है।

गीता मंत्रमय है। गीता का हर श्लोक एक महामंत्र है। इस ग्रंथ में बताया गया है कि किन-किन श्लोकों का जप कितने बार, कितने दिन करना है और वैसा करने से क्या फल मिलेगा और लौकिक एवं पारमार्थिक फलों की प्राप्ति के लिए आवश्यक जप एवं साधनाओं का स्पष्टीकरण किया गया है। मात्र लौकिक फलों की प्राप्ति के अलावा, पारमार्थिक फलों की प्राप्ति के लिए आवश्यक संदेश दिया गया है। पद्मपुराण में उल्लिखित अध्यायों के अनुक्रम के अनुसार कथा के रूप में वर्णित गीता पारायण के फल का संक्षिप्त विवरण मिलता है। उसमें गीता के मुख्य आशय, गीता तत्त्व एवं गीता की साधनाएँ आदि का स्पष्टीकरण विस्तृत रूप से किया गया है। पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखकर ग्रंथ के प्रत्येक भाग के अंत में श्लोकों की अनुक्रमणिका भी दी गयी है।

तिरुमल तिरुपति देवस्थान द्वारा इस बृहद् ग्रंथ का चार भागों में प्रकाशन किया जा रहा है। चौथे भाग में स्वामीजी द्वारा रचित गीता के तेरह, चौदह, पन्द्रह, सोलह, सत्रह व अठारह अध्यायों का विवरण व्याख्या के साथ दिया जा रहा है।

हम इस बृहद् ग्रंथ के प्रकाशन में सहयोग देनेवाले सभी आध्यात्मिक एवं सेवा निरत व्यक्तियों का हृदय से आभार प्रकट करते है। श्री शुकब्रह्माश्रमम् के संस्थापक एवं चिरस्मरणीय तपस्वी श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी को शतशतप्रणाम अर्पित करते हैं। तेलुगु व हिन्दी भाषाओं में निष्णात तथा हिन्दी रूपांतरकार एवं हैदराबाद के निवासी श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति के प्रति आभार व्यक्त करते है। सहृदय पाठक इसका अध्ययन कर, अपना भविष्य उज्जल करें। सर्वेश्वर भगवान श्रीकृष्ण की कृपा एवं स्वामीजी का अनुग्रह सभी लोगों पर सदा रहें।

कार्यनिर्वहणाधिकारी,
ति.ति.देवस्थान, तिरुपति।

विषय सूची

क्रम संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१.	तेरहवाँ अध्याय	१
२.	चौदहवाँ अध्याय	५५
३.	पन्द्रहवाँ अध्याय	८१
४.	सोलहवाँ अध्याय	११४
५.	सत्रहवाँ अध्याय	१४७
६.	अठारहवाँ अध्याय	१८१
७.	श्लोकों की अनुक्रमणिका	२८४

ॐ

श्री भगवद्गीता

अथ त्रयोदशोऽध्याय:

तेरहवाँ अध्याय

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग:

क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग

इस अध्याय का शीर्षक

"क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग" - क्षेत्र माने शरीर है। क्षेत्रज्ञ माने आत्मा है। वास्तव में जीव क्षेत्रज्ञ है न कि क्षेत्र। परन्तु अज्ञान के कारण जीव अपने को क्षेत्र मानकर दुःखों का सामना कर रहा है। क्षेत्र पंचभूतात्मक है। नश्वर है। विकारयुक्त है। क्षेत्रज्ञ चिन्मयरूप है। शाश्वत है। विकाररहित है। इन दोनों के स्वभाव का विवरण इस अध्याय में दिया गया है। दोनों मिले हुए हैं। उनके विभाजन का विवरण इस अध्याय में दिया गया है। अतः इस अध्याय का नाम क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग रखा गया।

इस अध्याय के प्रधान विषय

१. क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का विवरण (श्लोक १ से श्लोक ७ तक)

२. अमानित्वादि ज्ञान गुण - (श्लोक ८ से श्लोक १२ तक)

३. ज्ञेय वस्तु का प्रतिपादन - (श्लोक १३ से श्लोक १८ तक)

४. प्रकृति एवं पुरुष का वर्णन- (श्लोक १९ से श्लोक ३५ तक)

सम्बन्ध - बारहवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुनने सगुण और निर्गुण के उपासकों की श्रेष्ठता के विषय में प्रश्न किया था। उसका उत्तर देते हुए भगवान्ने दूसरे श्लोक में संक्षेप में सगुण उपासकों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके तीसरे से पाँचवें श्लोक तक निर्गुण उपासना का स्वरूप, उसका फल और देहाभिमानियोंके लिये उसके अनुष्ठान में होनेवाली कठिनता का निरूपण किया। तदनन्तर छठे से बीसवें श्लोक तक, सगुण उपासना का महत्त्व, फल, प्रकार और भगवद्भक्तों के लक्षणों का वर्णन करते-करते ही अध्याय की समाप्ति हो गयी। निर्गुण का तत्त्व, महिमा और उसकी प्राप्ति के साधनों को विस्तारपूर्वक नहीं समझाया गया। अतएव निर्गुण-निराकार का तत्त्व अर्थात् ज्ञानयोग का विषय भलीभाँति समझाने के लिये तेरहवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है।

अर्जुन उवाच

१. प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितु मिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव॥

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले। केशव = हे कृष्ण। प्रकृतिम् = प्रकृति। पुरुषं च एव = पुरुष। क्षेत्रम् = क्षेत्र के। क्षेत्रज्ञं एव च = क्षेत्रज्ञ। ज्ञानम् = ज्ञान। ज्ञेयं च = ज्ञेय। एतत् = इन सब को। वेदितुम = जानना। इच्छामि = चाहता हूँ।

भावार्थ - अर्जुनने कहा- हे कृष्ण! प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान तथा ज्ञेय इन सब को मैं जानना चाहता हूँ।

व्याख्या - अब तक सगुण ब्रह्म के बारे में अर्जुनने अच्छी तरह सुन लिया था। उनके मन में निर्गुण ब्रह्म के बारे में जानने का कुतूहल पैदा हुआ। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण से इस बारे में उन्होंने पूछा। गीता के आरंभ के छः अध्याय कर्मषट्क, फिर सात से बारह तक के छः अध्याय भक्ति षट्क तथा तेरहवें अध्याय से अठारहवें अध्याय तक ज्ञान षट्क कहलाते हैं। इसलिए अब ज्ञान

सम्बन्धी विवरण दिया जाता है। ज्ञानमार्ग के अनुयायियों के लिए ५८ अध्याय बहुत महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्न – अर्जुन ने भगवान से किस बारे में जानना चाहा ?

उत्तर –१. प्रकृति २. पुरुष ३. क्षेत्र ४. क्षेत्रज्ञ ५. ज्ञान ६. ज्ञेय — इन छः विषयों के बारे में जानना चाहा।

श्री भगवानुवाच

२. इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥

शब्दार्थ – श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले। कौन्तेय = कुन्तीपुत्र हे अर्जुन। इदं शरीरम् = यह शरीर। क्षेत्रम् इति = क्षेत्र। अभिधीयते = कहा जाता है। एतत् = इसे। यः = जो। वेत्ति = जानता है। तम् = उसे। क्षेत्रज्ञः इति = क्षेत्रज्ञ। तत् विदः = उसके बारे में जाननेवाले। प्राहुः = कहते हैं।

भावार्थ – श्री भगवान् बोले - हे अर्जुन ! यह शरीर 'क्षेत्र' इस नामसे कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' इस नामसे उनके तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं।

व्याख्या – क्षेत्र माने खेत है, भूमि है। जिस प्रकार अच्छी फसल के लिए उपजाऊ भूमि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीव के हृदय में स्थित ज्ञान बीज के विकास के लिए शरीर की आवश्यकता होती है। क्योंकि साधना एवं अनुष्ठान आदि सब इस शरीर के द्वारा ही करना पडता है। धर्मबीज एवं ज्ञानबीज के लिए शरीर क्षेत्र की तरह काम देता है, इसलिए इसे क्षेत्र कहा गया।

इस जड शरीर को चेतनामय एक शक्ति जानती है। उस प्रज्ञारूपी वस्तु

को ही क्षेत्रज्ञ कहते हैं। क्षेत्र रूपी शरीर को जाननेवाला क्षेत्रज्ञ है। देह एवं इन्द्रियों के द्वारा घटनेवाली सब घटनाओं का वही साक्षी है। वह निर्विकार, चिद्रूप, अविनाशी एवं पंचकोश विलसित है। जड को जड समझ नहीं सकता। प्रज्ञा ही उसे समझ सकती है। वह प्रज्ञा ही क्षेत्रज्ञ है। "वेत्ति" (जानता है) कहने से स्पष्ट है कि क्षेत्रज्ञ प्रज्ञावान है, जडस्वरूप नहीं है।

खेत की देखभाल करनेवाला अलग होता है। इसी तरह शरीर को देखनेवाला अलग होता है। वह प्रत्यगात्मा है। यद्यपि वह देह में है, तथापि देह के साक्षी के रूप में जागृति, सुषुप्ति एवं स्वप्न में खुद जागृत रहकर सब कुछ देखता रहता है।

प्रश्न - क्षेत्र माने क्या है ?

उत्तर - यह शरीर ही क्षेत्र है।

प्रश्न - क्षेत्रज्ञ कौन है ?

उत्तर - इस शरीर को जाननेवाला ही क्षेत्रज्ञ है।

सम्बन्ध - इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के लक्षण बतला कर अब क्षेत्रज्ञ और परमात्मा की एकता करते हुए ज्ञानके लक्षण का निरूपण करते हैं -

३. क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

शब्दार्थ - भारत = हे अर्जुन। सर्व क्षेत्रेषु = समस्त क्षेत्रों में। माम् = मुझे। क्षेत्रज्ञं च अपि = क्षेत्रज्ञ भी। विद्धि = जानो। क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोः = क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का। ज्ञानम् = ज्ञान। यत् = जो है। तत् = वही। ज्ञानम् = ज्ञान है। मम = मेरा। मतम् = मत है।

भावार्थ - हे अर्जुन ! तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अर्थात् विकारसहित प्रकृति का और पुरुष का जो तत्त्व से जानना है, वह ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या - इस श्लोक में 'तत्वमसि' वाले महावाक्य का उपदेश दिया गया है। इसके पहले दूसरे अध्याय में "न त्वेवाहं जातुनासं" (२-१२) कहकर "तत्वमसि" वाले महावाक्य का सन्देश भगवान ने दिया। भगवान स्पष्ट बताते हैं कि जीव स्वयं शिव ही है। क्षेत्र में अर्थात् देह एवं इन्द्रियों में साक्षीरूप में जो प्रत्यगात्मा विद्यमान है, वह परमात्मा से भिन्न नहीं है। दोनों एक ही हैं। भगवानने बडी करुणा के साथ बताया कि क्षेत्र को जाननेवाले प्रज्ञारूप जो चेतनामय अर्थात् क्षेत्रज्ञ है, वह "मां विद्धि" मुझे ही जानो। इससे ज्ञात होता है कि भगवान कहीं दूर नहीं है। हर जीव के हृदय में बसा है। उसे जानना आवश्यक है।

जीव को यह रहस्य मालूम हो, तो उसे अपरिमित धैर्य एवं आनन्द प्राप्त होंगे। इसीलिए भगवानने यहाँ बताया कि यद्यपि संसार में कई शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान हैं, जैसे संगीतज्ञान, शिल्पज्ञान, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी ज्ञान आदि, तथापि उन सब में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ज्ञान ही श्रेष्ठ है। भगवानने यह भी कह दिया कि "मम मतम्" यह मेरा निश्चित मत है। इससे इस परम वाक्य का सत्य निर्धारित होता है। साधकों को भगवान के ऐसे वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी ज्ञान प्राप्तकर सर्वेश्वर के अस्तित्व को पहचानकर अपना जन्म सार्थक बनाना चाहिए।

भगवानने कहा कि सभी क्षेत्रों में मैं क्षेत्रज्ञ हूँ। इससे स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण मानव नहीं हैं, सभी भूतों में विलसित परमात्मा हैं। 'सर्व क्षेत्रेषु' कहने से स्पष्ट होता है कि भगवान एक दो प्राणियों में नहीं, समस्त भूतों में विद्यमान हैं 'क्षेत्रज्ञम्' कहने से ज्ञात होता है कि भगवान जड नहीं है। प्रज्ञा रूप हैं।

प्रश्न - समस्त प्राणियों में क्षेत्रज्ञ के रूप में कौन विद्यमान हैं ?

उत्तर – स्वयं परमात्मा ही विद्यमान हैं।

प्रश्न – परमात्मा कहाँ हैं ?

उत्तर – समस्त प्राणियों के हृदय में साक्षी के रूप में परमात्मा विद्यमान हैं।

प्रश्न – क्या किसी एक या दो प्राणियों में वे हैं ?

उत्तर – नहीं। वे सब प्राणियों में बसे हैं।

प्रश्न – भगवान जड रूप है या शून्य रूप ?

उत्तर – वे चिन्मय रूप हैं। प्रज्ञा रूप है। इसीलिए उन्हें 'क्षेत्रज्ञम्' कहा है।

प्रश्न – संसार में वास्तविक ज्ञान कौन-सा है ?

उत्तर– भगवान ने कहा कि क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के विभाजन को ज्ञात करानेवाला जो ज्ञान है, वही वास्तविक ज्ञान है। यह मेरा निश्चित मत है।

४. **तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्य यद्विकारि यतश्च यत्।**
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे श्रृणु ।।

शब्दार्थ – तत् क्षेत्रम् = वह क्षेत्र। यत् च = जो है। यादृक् च = जैसा है। यत् विकारि = जैसा विकारी है। यतः च यत् = किससे किस तरह उत्पन्न है। सः च = वह क्षेत्रज्ञ। यः = जो है। यत् प्रभावः च = जैसा प्रभावशाली है। तत्= उसे। समासेन = संक्षेप में। मे = मुझसे। श्रृणु = सुनो।

भावार्थ – वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारण से जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है - वह सब संक्षेप में मुझसे सुन।

व्याख्या – भगवान जो बताना चाहते थे, उसका सार इस श्लोक में बता दिया।

क्षेत्र को उन्होंने विकारवान तथा क्षेत्रज्ञ को प्रभावशाली बताया। वास्तव में शरीर कई विकारों से प्रभावित होनेवाला नश्वर पदार्थ है। आत्मा शाश्वत है। अमित प्रभावशाली है।

"समासेन मे श्रुणु" - भगवान ने कहा कि यह सारा विवरण संक्षेप में बताऊंगा। क्योंकि युद्ध क्षेत्र में उसका विस्तृत विवरण देना संभव नहीं, इसीलिए उन्होंने संक्षेप में बताने का निर्णय कियां।

सम्बन्ध - तीसरे श्लोक में 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के जिस तत्त्व को संक्षेप में सुननेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा - अब उसके विषय में ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्र की उक्ति का प्रमाण देकर भगवान् ऋषि, वेद और ब्रह्मसूत्र को आदर देते हैं -

५. **ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।**
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

शब्दार्थ - ऋषिभिः = ऋषियों से। बहुधा = अनेक प्रकार से। पृथक = अलग अलग। विविधैः = कई प्रकार के। छन्दोभिः = वेदों के द्वारा। गीतम् = प्रतिपादित। हेतुमद्भिः = हेतुओं से युक्त। विनिश्चितैः = निश्चित। ब्रह्मसूत्र पदैः च एव = ब्रह्मसूत्र वाक्यों द्वारा भी। (गीतम् = बताया गया है)।

भावार्थ - यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है और विविध वेदमन्त्रों द्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी कहा गया है।

व्याख्या - भगवान क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के ज्ञान की महिमा बताने के लिए अनुभवी ऋषिसत्तमों के वाक्यों का उल्लेख करते हैं। "ऋषिभिर्बहुधागीतम्" - ऋषि इन्द्रियों को जीतनेवाले हैं। आत्मसाक्षात्कार करनेवाले महानुभाव हैं। उन ऋषियोंने कई बार इस ज्ञान के बारे में बताया। इससे उसकी महत्ता और बढती

है। "हेतु मद्भिर्विनिश्चितैः" - व्यासादि महर्षियों के ब्रह्मसूत्र आदि वाक्य साधारण नहीं हैं। हेतुवाद की परीक्षा में वह ज्ञान उत्तीर्ण होता है। स्वानुभव से वे वाक्य बताये गये हैं। अतः वे परम सत्य हैं। इससे स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण के वाक्य जो इस क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी ज्ञान से सम्बन्धित हैं, काफी महत्वपूर्ण हैं।

६. महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

७. इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

शब्दार्थ - महाभूतानि = पंचमहाभूत। अहंकारः = अहंकार। बुद्धिः = बुद्धि। अव्यक्तं एव च = मूल कर्मेन्द्रिय, मन - कुल ग्यारह इन्द्रिय। इन्द्रिय गोचराःपञ्च च = इन्द्रिय सम्बन्धी विषय पांच। इच्छा = इच्छा। द्वेषः = द्वेष। सुखम् = सुख। दुःखम् = दुःख। सङ्घातः = देहेन्द्रियादि समुदाय। चेतना = अक्ल। धृतिः = धृति। एतत् = इस। सविकारम् = विकारों से युक्त। क्षेत्रम् = क्षेत्र। समासेन = संक्षेप में। उदाहृतम् = बताया गया।

भावार्थ - पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि और मूल प्रकृति भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा इच्छा, सुख, दुःख, स्थूल देह का पिण्ड, चेतना और धृति इस प्रकार विकारों सहित यह क्षेत्र संक्षेप में कहा गया है।

व्याख्या - क्षेत्र माने केवल स्थूल देहमात्र ही नहीं, बल्कि समस्त दृश्य जगत् भी है। स्थूल एवं सूक्ष्म पंचमहाभूत, मन, बुद्धि तथा अतिसूक्ष्म, अव्यक्त (मूल प्रकृति) भी क्षेत्र के अंतर्गत ही आते हैं। चूंकि मन तथा बुद्धि भी क्षेत्र से सम्बन्धित हैं, अतः उनसे सम्बन्धित द्वेष आदि दुर्वृत्तियाँ एवं धृति आदि सद्वृत्तियाँ क्षेत्र के अंतर्गत ही मानी गयीं। निस्संकल्प आत्मस्थिति में उन

सद्वृत्तियों को भी पार कर जाना पडता है। "सविकारम्" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि यह दृश्य सारा विकारशील है, क्षेत्रज्ञ एक ही निर्विकार है। इस क्षेत्र में 'सुख' भी जोडा गया है। उस सुख की प्राप्ति के लिए लालायित न होकर निर्विकार आत्म सुख के लिए प्रयत्न करना चाहिए। आम तौर पर लोग समझते हैं कि 'दृश्य व क्षेत्र का अर्थ देह व दिखाई देनेवाला संसार है।' लेकिन यहां बताया गया कि वास्तव में सूक्ष्म पंच भूत, मन, बुद्धि एवं मूलप्रकृति भी दृश्य ही है। अतः विज्ञ पुरुष का कर्तव्य है कि वह अपने को आत्मा समझे, देह, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि के प्रति आसक्त न हो, धीरे- धीरे उन पर विजय प्राप्त करे तथा आत्मस्वरूप में स्थिरता प्राप्त करे।

भगवान का क्षेत्र सम्बन्धी यह विवरण आत्मा एवं अनात्मा के विचारकों के लिऐ बडा उपयोगी सिद्ध होगा। क्योंकि इसमें स्पष्ट बता दिया गया कि साधक को अपने से किस को अलग करना चाहिए। इससे यह अभ्यास प्राप्त होगा कि विश्व एवं देह के अलावा मन को भी अपने से अलग रखना चाहिए।

प्रश्न - क्षेत्र माने क्या है ?

उत्तर - (१) पांच महाभूत (२) अहंकार (३) बुद्धि (४) मूल प्रकृति (५) ११ इन्द्रियां (६) ५ इन्द्रिय सम्बन्धी विषय (७) इच्छा (८) द्वेष (९) सुख (१०) दुःख (११) संघात (१२) अकूल (१३) धैर्य।

प्रश्न - क्षेत्र कैसा है ?

उत्तर - क्षेत्र विकासशील है।

सम्बन्ध - इस प्रकार क्षेत्र के स्वरूप और उसके विकारों का वर्णन करने के बाद अब जो दूसरे श्लोक में यह बात कही थी कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरे मत से ज्ञान है - उस ज्ञानको प्राप्त करनेके साधनोंका 'ज्ञान' के ही नाम से पाँच श्लोकोंद्वारा वर्णन करते हैं -

८. **अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।**
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥

९. इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

१०. असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥

११. मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥

१२. अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

शब्दार्थ – अमानित्वम् = अपनी तारीफ आप न करना। अदमभित्वम् = दंभ न करना। अहिंसा = दूसरे प्राणियों को व्यथा पहुँचाना। क्षान्तिः = सहनशील रहना। आर्जवम् = मन वाणी आदि की सरलता। आचार्योपासनम् = गुरु की सेवा में तत्पर रहना। शौचम् = अन्दर-बाहर शुद्ध रहना। स्थैर्यम् = स्थिरता से रहना। आत्म विनिग्रहः = मन को संयम में रखना। इन्द्रियार्थेषु = इन्द्रिय विषयक शब्द स्पर्श आदि में। वैराग्यम् = विरक्ति से रहना। अनहंकारः एव च = निरहंकार रहना। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख दोषानुदर्शनम् = जन्म, मृत्यु, बुढापा, रोग, दुःख आदि से होनेवाले दुःखों का बार-बार स्मरण करना। पुत्रदार गृहादिषु= संतान, पत्नी, गृह आदि के प्रति। आसक्तिः = आसक्ति का न रहना। अनभिष्वंगः = लगाव न होना। इष्ट, अनिष्ट उपपत्तिषु = इष्ट अयिष्ट के समय। नित्यम् = सदा। समचित्तत्वं च = समबुद्धि से रहना। मयि = मुझमें। अनन्ययोगेन = अनन्य भावसे। अव्यभिचारिणी = अविचलित। भक्तिः = भक्ति से युक्त रहना। विविक्तदेश सेवित्वम् = एकांत प्रदेश का आश्रय लेना। जन संसदि = जन समूह में। अरतिः= प्रीति न होना। अध्यात्मज्ञान नित्यत्वम् = अध्यात्म ज्ञान का नित्य रहना। तत्वज्ञानार्थ दर्शनम् = तत्वज्ञान के महान् प्रयोजन को जानना। एतत् = यह (ये)। ज्ञानं इति = ज्ञान। प्रोक्तं = कहा गया। यत्= जो। अतः अन्यथा = इससे भिन्न रहेगा। (तत् = वह) अज्ञानम् = अज्ञान। (समझना चाहिए)।

भावार्थ - श्रेष्ठताके अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, किसी भी प्राणी को किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदि की सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, अन्तः करण की स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीर का निग्रह।

इस लोक और परलोक के सम्पूर्ण भोगों में आसक्ति का अभाव और अहङ्कार का भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दुःख और दोषों का बार-बार विचार करना।

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदि में आसक्ति का अभाव, ममता का न होना तथा प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना।

मुझ परमेश्वर में अनन्य योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देह में रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न होना।

अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को ही देखना - यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है - ऐसा कहा है।

व्याख्या - इस अध्याय में ज्ञान और ज्ञेय के बारे में बताया गया। ज्ञान साधना है, ज्ञेय "साध्य" है। यहाँ बताया गया कि परमात्मा रूपी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आवश्यक नैतिक, आध्यात्मिक संपत्ति ही ज्ञान है। ऐसे ज्ञान के पारखी न बनें, तो ज्ञेयवस्तु परमात्मा को कोई प्राप्त नहीं कर सकता। दर्पण शुद्ध रहे, तो चेहरा उसमें अच्छी तरह दिखाई देगा। मैला जमा रहे तो दिखाई नहीं देगा। इसी प्रकार कई सुगुणों से विलसित होते हुए चित्त जब निर्मल रहेगा, तब अधिष्ठाता-आत्मा उसमें अच्छी तरह व्यक्त होगा। इसलिए साधक को चाहिए कि वह ज्ञानवर्धक गुणों का पहले अर्जन करे, तब उसे ज्ञेय वस्तु प्राप्त हो जाएगी। इसीलिए भगवान ने इन ज्ञान गुणों के बारे में गीता में कई बार कहा। यहाँ बीस

सुगुणों का उल्लेख किया गया। एक एक का अभ्यास करते हुए सब सद्गुणों को अपनाना चाहिए।

"आचार्योपासनम्" - भगवान बताते हैं कि गुरु की सेवा अवश्य करनी चाहिए। क्योंकि भगवान एवं गुरु का अनुग्रह पाना मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। उनका अनुग्रह साधक के विकास के लिए जरूरी है।

"शौचम्" - गीताचार्य शुचिता को प्रधानता देते हैं। मुमुक्षुओं के लिए बाहरी एवं भीतरी शुचिता आवश्यक मानी गयी है।

"स्थैर्यम्" - भगवान के मार्ग पर चलते समय चंचलता को स्थान नहीं देना चाहिए। स्थिर निर्णय कर उन्हें अमल में लाना चाहिए। सांसारिक लोगों की बातें सुनकर भगवान, धर्म एवं पारमार्थिक विषयों के प्रति आस्था में कमी नहीं करनी चाहिए।

"आत्मविनिग्रहः" - यहाँ आत्मा का मतलब मन है। इन्द्रियाँ हैं। मन एवं इन्द्रिय निग्रह अत्यन्त आवश्यक है। निग्रह न कहकर विनिग्रह कहा गया। इससे स्पष्ट है कि मन एवं इन्द्रियों को परिपूर्ण रूप से वश में रख लेना चाहिए। नहीं तो माया स्वल्प निग्रहियों को कभी भी गिरा सकती है।

"इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्" - आत्मसाक्षात्कार के लिए वैराग्य बहुत जरूरी है। मन शब्दादि की ओर दौडता रहे, तो ध्यान में मन लीन नहीं होता। अतः दृश्य एवं भोग आदि से मन को अंतर्मुखी बनाने के लिए साधक को वैराग्य का आश्रय अवश्य लेना चाहिए।

"जन्ममृत्युजराव्याधि दुःख दोषानु दर्शनम्" - आम तौर पर लोग जान्म, मरण, बुढापा आदि में दुःख एवं दोष देखते हैं। वास्तव में जन्म से कोई दुःखी नहीं होता। घर में बच्चा पैदा होता है, तो लोग खुशियाँ मनाते हैं। परन्तु भगवान कहते हैं कि जन्म में भी दुःख पाना चाहिए। क्योंकि जन्म के कारण ही बाकी सब दुःख जैसे रोग, बुढापा तथा मरण सम्बन्धी, होते हैं।

अतः जन्म, मरण, बुढापा तथा व्याधि आदि के दोषों का चिन्तन मुमुक्षुओं को सदा करना चाहिए। उनसे बचने के लिए आत्म ज्ञान पाना चाहिए। यह साधना मुमुक्षुओं के लिए बहुत जरूरी है।

"आसक्ति रनभिष्वङ्गः पुत्र दार गृहादिषु" - आदिषु शब्द के अंतर्गत धन, भूमि आदि आते हैं। गृहस्थाश्रम में जो रहते हैं, उन्हें इस विषय पर अधिक ध्यान देना चाहिए। परिवार, बन्धुबान्धव तथा धन आदि हो सकते हैं। परन्तु उनमें ज्यादा लगाव नहीं होना चाहिए।

"नित्यं च समचित्तत्वम्" - इष्ट एवं अयिष्ट के प्रति नित्य समत्वबुद्धि से रहना है। अनन्य योगेन कहा गया। भगवान को छोड कर अन्य किसी भी दृश्य वस्तु से सम्बन्धित संकल्प को हृदय में नहीं आने देना चाहिए। यही अनन्य योग है। भक्तियोग, ध्यानयोग तथा कर्मयोग सब अनन्ययोग से शक्तिवान बनते हैं।

"भक्ति रव्यभिचारिणी" - भक्ति को चंचल नहीं रहना चाहिए। अचंचल भक्ति का आश्रय लेना चाहिए। आरंभ में ऐसी भक्ति संभव नहीं होती। परन्तु आगे चलकर वैसी स्थिति प्राप्त करनी चाहिए।

"विविक्त देश सेवित्वम्" - सांसारिक लोगों से साधना में विघ्न हो सकता है। इसलिए एकांत स्थल में साधना करनी चाहिए। अपने अपने गृह में ऐसे एकांत स्थल की व्यवस्था की जा सकती है।

"अरतिर्जन संसदि" - दुर्जनों का सांगत्य छोडकर सज्जनों का सांगत्य स्वीकार करना चाहिए। उन सज्जनों से शिक्षा लेनी चाहिए। उसे अनुभव में लाना चाहिए। इसके लिए एकांत स्थल में साधना करनी चाहिए।

"अध्यात्मज्ञान नित्यत्वम्" - दैवस्मरण तथा अध्यात्मज्ञान किसी एक समय नहीं, सदा करना चाहिए। रात के समय दीप बुझ जाय, तो अंधेरा

छा जाता है। इसी तरह ज्ञानदीप छूट जाय, तो अज्ञान तिमिर व्याप्त होता है। जीव पतन के गर्त में गिर जाता है। इसलिए साधकों को बहुत ही सचेत रहना चाहिए। "अध्यात्मज्ञान नित्यत्वं" भगवान के इस वाक्य का स्मरण करते हुए माया को पास भटकने न देना चाहिए।

"तत्वज्ञानार्थ दर्शनम्" - तत्वज्ञान के बारे में बात करना काफी नहीं है। उसके बारे में चर्चा करनी चाहिए। उसे अनुभव में लाना चाहिए। तभी उससे प्रयोजन होगा।

"अज्ञानं यदतोऽन्यथा" - अमानित्व आदि गुणों के विरुद्ध जितने भी दंभ, दर्प आदि गुण हैं, वे सब अज्ञान के अंतर्गत ही हैं।

प्रश्न - ज्ञान-गुण कितने हैं ? वे क्या क्या हैं ?

उत्तर - ज्ञानगुण बीस हैं। वे निम्न प्रकार हैं।

(१) अपनी डफली आप न बजाना (२) दंभ का न रहना (३) अन्यप्राणियों को न सताना (४) सहनशील रहना (५) ऋजुता से बर्ताव करना (६) गुरु की सेवा करना (७) बाहरी एवं अंदरूनी शुचिता (८) सन्मार्ग पर स्थिर रहना (९) मन को वश में रखना (१०) इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों में निरासक्त रहना (११) अहंकार से रहित रहना (१२) जनन, मरण, बुढापा तथा रोग आदि से होनेवाले दुःखों का बार-बार स्मरण करते रहना (१३) पुत्र, पत्नी तथा गृह आदि के प्रति आसक्त न होना (१४) उनमें लगाव का न होना (१५) इष्ट एवं अयिष्ट सम्बन्धी मामलों में समबुद्धि से रहना (१६) भगवान के प्रति अनन्य भक्ति रखना (१७) एकांत स्थल का आश्रय (१८) जन समूहों के प्रति प्रीति न रखना (१९) निरंतर आध्यात्मिक ज्ञान से विलसित रहना (२०) तत्वज्ञान के प्रयोजन जानना।

प्रश्न – अज्ञान माने क्या है ?

उत्तर – उपर्युक्त ज्ञानगुणों के विपरीत जो भी गुण हैं, वे सब अज्ञान ही हैं।

सम्बन्ध – इस प्रकार ज्ञान के साधनों का 'ज्ञान' के नाम से वर्णन सुनने पर यह जिज्ञासा हो सकती है कि इन साधनोंद्वारा प्राप्त 'ज्ञान' से जाननेयोग्य वस्तु के स्वरूप का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हुए उसके जानने का फल 'अमृतत्व की प्राप्ति' बातलाकर छः श्लोकों में जानने के योग्य परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

१३. ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

शब्दार्थ - यत् = जो। ज्ञेयम् = जानने योग्य है। यत् = जिसे। ज्ञात्वा = जानकर। अमृतम् = मोक्षको। अश्नुते = पाता है। तत् = उसे। प्रवक्ष्यामि = अच्छी तरह कहूँगा। अनादिमत् = अनादिवाला। परंब्रह्म = परब्रह्म। तत् = वह। सत् = सत। न उत्यते = नहीं कहा जाता। असत न = न असत् ही। (उत्यते = कहा जाएगा)

भावार्थ - जो जाननेयोग्य है, तथा जिसको जानकर मनुष्य को परमानन्द प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादिवाला परमब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।

व्याख्या – यहाँ से शुरू करके छःश्लोक तक ज्ञेयरूप परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हैं। ज्ञान मात्र से तृप्त न होकर ज्ञेय को भी प्राप्त करना हर एक का कर्तव्य है। पहले दुर्गुणों को दूर करके सद्गुणों का अभ्यास करना चाहिए। फिर उन सद्गुणों को पार कर निर्गुण परमात्मा को पाने का प्रयत्न करना चाहिए। वही पूर्ण स्थिति है। ऐसे ज्ञेय तत्व का बोध करानेवाले धर्म संसार में बहुत कम हैं। ज्यादातर धर्म केवल सद्गुणों का ही बोध कराते हैं। वह काफी नहीं है।

साधक को और आगे बढकर ज्ञेय पदार्थ ब्रह्म में लीन होने का प्रयत्न करना चाहिए। गीता चार्यने जीव को ज्ञेय भी बताकर अद्वैत तक ले जाकर छोड दिया। इस प्रकार गीताने द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत तीनों का बोध कराया। इसीलिए विज्ञ लोगों के मतानुसार गीता परिपूर्ण शास्त्र है।

"प्रवक्ष्यामि" - भली भांति बताता हूँ। अध्यात्म के बोध में श्रीकृष्ण भगवान का यह वाक्य महत्वपूर्ण है। 'यज्ञात्वाऽमृत मश्नुते" - ज्ञेयवस्तु परमात्मा को जान लें और उनसे प्राप्त होनेवाले फल के बारे में पहले ही जान लें, तो साधक उत्साह से उसे पाने के लिए आगे बढेगा। इसीलिए भगवानने पहले ही ज्ञेय वस्तु की प्राप्ति के फल के बारे में सूचित कर दिया। फल अमृत्व व मोक्ष ही है।

'न सत्तन्ना सदुच्यते" - कहा कि वह सत् नहीं है। इसका अर्थ दृश्य पदार्थ की तरह गोचर होनेवाला नहीं है। ऐसी स्थिति में उसका अर्थ "वह नहीं है" कहना ठीक नहीं है।

सम्बन्ध - इस प्रकार ज्ञेयतत्त्व के वर्णन की प्रतिज्ञा करके उस तत्त्व का संक्षेप में वर्णन किया गया, परन्तु वह ज्ञेय तत्त्व बड़ा गहन है। अतः साधकों को उसका ज्ञान करानेके लिये सर्वव्यापकत्वादि लक्षणों के द्वारा उसीका पुनः विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं -

१४. सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

शब्दार्थ - तत् = वह। सर्वतः = सर्वत्र। पाणिपादम् = हाथ पैरवाला। सर्वतः = सर्वत्र। अक्षि शिरो मुखम् = नेत्र, सिर और मुखवाला। सर्वतः = सर्वत्र। श्रुतिमत् = कानवाला होकर। लोके = संसार में। सर्वम् = समस्त को। आवृत्य = आवृत (होकर)। तिष्ठति = है।

भावार्थ - वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है। क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है।

व्याख्या - यहाँ कहा गया कि वह परब्रह्म नेत्रों, कानों एवं मुखों से युक्त है। इससे स्पष्ट होता है कि जीवों के कार्य वह सदा देखता रहता है। यह सत्य मालूम् हो, तो पाप कार्य कोई नहीं करेगा। मन में भी परमात्मा रहता है। इसलिए मन में उत्पन्न होनेवाले संकल्प भी उसे मालूम होते हैं। अतः जीव को सतर्क रहना चाहिए। पाप कार्य ही नहीं, पाप संकल्प भी उसे नहीं करना चाहिए।

लोग पूछा करते हैं कि भगवान कहाँ है ? उत्तर दिया गयाा कि वह सब जगह है।

"सर्व मावृत्य तिष्ठति" - बताया गया कि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा दृश्य पदार्थ से परे है। हानि करनेवाली वस्तु, वश में होनेवाली वस्तु से बढकर होनी चाहिए। आत्माने (ब्रह्म) दृश्य पदार्थ को अपने वश में कर लिया। अपनी मुठ्ठी में कर लिया। इसलिए जीव को अल्पवस्तु के पीछे न पड कर, महान् परमात्मा के ही आश्रय में जाना चाहिए।

सम्बन्ध - ज्ञेयस्वरूप परमात्मा को सब ओर से हाथ, पैर आदि समस्त इन्द्रियों की शक्तिवाला बतलाने के बाद अब उसके स्वरूप की अलौकिकता का निरूपण करते हैं -

१५. सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

१६. बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

१७. अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

१८. ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

शब्दार्थ - तत् = वह। सर्वेन्द्रिय गुणाभासम् = सब इन्द्रियों के गुणों को जाननेवाला है। सर्वेन्द्रिय वर्जितम् = सब इन्द्रियों से रहित है। आसक्तम् = आसक्ति रहित। सर्वभृत च एव = सब का धारण करनेवाला। निर्गुणम् = गुणरहित। गुण भोक्तृच = गुणों को भोगनेवाला है। भूतानाम् = प्राणियों के। बहिः = बाहर। अन्तः च = भीतर। (स्थितम् = रहनेवाला है)। अचरम् = अचल। चरम एव च = चररूप है। सूक्ष्मत्वात् = अति सूक्ष्म होने से। अनिज्ञेयम् = अविज्ञेय है। तत् = वह। दूरस्थम् = दूर रहनेवाला। अन्तिकेच = समीपरहनेवाला है। भूतेषु = प्राणियों में। तत् = वह। अविभक्तम च = अविभाजित होकर भी। विभक्तं इव च = विभाजित की तरह। स्थितम् = स्थित है। भूत भर्तृच = प्राणियों को धारण करनेवाला। प्रभविष्णु च = सृजन करनेवाला। ज्ञेयम् = ज्ञातव्य है। तत् = वह ब्रह्म। ज्योतिषाम अपि = ज्योतित सूर्य चन्द्रादि को भी। ज्योतिः = प्रकाश देता है। तमसः परम् = तम से प्रेरे है (अतीत है)। ज्ञानम् = ज्ञान स्वरूप है। ज्ञेयम् = ज्ञातव्य है। ज्ञान गम्यम् = ज्ञान से प्राप्तव्य है। सर्वस्य = सब प्राणियों के। हृदि = हृदय में। विष्टितम् = स्थित है। उच्यते = कहा जाता है।

भावार्थ - वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जाननेवाला है, परन्तु वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है, तथा आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और निर्गुण होनेपर भी गुणोंको भोगनेवाला है।

वह चराचर भूतों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है, और चर-अचररूप भी वही है। और वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप में और दूर में भी स्थित वही है।

वह परमात्मा विभाग रहित एक रूप मे आकाश के सदृश परिपूर्ण होने

पर भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है। तथा वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूप से भूतों को धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूप से संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूप से सब को उत्पन्न करनेवाला है।

वह परब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योत एवं माया से अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जानने के योग्य एवं तत्त्वज्ञान से प्राप्त करनेयोग्य है और सब के हृदय में विशेष रूप में स्थित है।

व्याख्या – इन श्लोकों में ज्ञेय रूप परब्रह्म काा विस्तार से वर्णन किया गया है। "ज्ञान गम्यम्" कहने से स्पष्ट है कि वह ज्ञेय रूप उपर्युक्त ज्ञान गुणों से युक्त होने पर ही प्राप्त होगा। "कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग तथा ध्यानमार्ग" इनमें से किसी भी मार्ग का अनुसरण करने पर भी अन्त में इस ज्ञेयरूप परमात्मा को जानकर ही मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। अतः मुमुक्षु को ज्ञानगुणों की प्राप्ति के साथ, इस ज्ञेयरूप का भी मनन करते रहना चाहिए।

वासनाओं को मिटाने के साथ साथ तत्वज्ञान से भी युक्त होना चाहिए। साध्यवस्तु के ज्ञान के साथ साथ साधना भी होनी चाहिए। गीता का सार, गीता का लक्ष्य यह ज्ञेयतत्व ही है। अतः साधकों को चाहिए कि वे इन श्लोकों का अर्थ अच्छी तरह जान लें और महसूस करें कि वे भी उस परब्रह्म के रूप ही हैं, अतः उसमें अपने को लीन कर लें।

"असक्तम्" - दृक् - स्वरूप आत्मा दृश्य पदार्थ का स्पर्श नहीं करता। "बहिरन्तश्च भूतानाम्" - भगवान कहाँ है ? इस प्रश्न का जवाब यहाँ दिया गया है। यहाँ स्पष्ट कर दिया गया कि समस्त जीवराशि के बाहर भीतर परमात्मा विद्यमान हैं। अतः लोगों को यह समझ कर कि उनके पाप व पुण्य कर्म को परमात्मा देखते हैं, पाप कर्म करने से हाथ खींच लेना चाहिए।

"अचरं चरमेव च" — एक ही वस्तु हिलती है, नहीं भी हिलती,

यह कैसे संभव है ? जिस तरह मनुष्य स्वप्न में यद्यपि चलता है, पर वास्तव में खाट पर लेटा रहता है, उसी तरह स्वप्न में यद्यपि चलता है, तथापि वास्तव में ब्रह्म के रूप में निश्चल रहता है।

"सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयम्" १ स्थूलाकाश, चित्ताकाश एवं चिदाकाश नामकतीन आकाश हैं। एकसे बढकर दूसरा सूक्ष्म है। इनमें तीसरा है चिदाकाश। वही ज्ञेय रूप परमात्मा है। इसलिए वह अत्यन्त सूक्ष्म है। स्थूल, सांसारिक एवं अज्ञान की दृष्टि को गोचर नहीं होता। ज्ञाननेत्र से ही वह जाना जा सकता है।

"अन्तिके च तत्" — यहाँ बताया गया कि परमात्मा लोगों के अति समीप हैं। अतः लोगों को दण्डदेनेवाले अधिकारी को अपने समीप स्थित समझकर पाप कर्म करने से बचकर रहना चाहिए।

"अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्" - वास्तव में भगवान प्राणियों में अलग अलग विभाजित नहीं हैं। अविद्या के कारण लोग समझते हैं कि भगवान विभाजित हैं। इसीलिए 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है। कलश के जल में, नदी के जल में तथा समुंदर के जल में यद्यपि भगवान अलग अलग दीखते हैं, मगर विंब के रूप में वे अविभक्त ही रहते हैं। परमात्मा के बारे में भी ऐसा ही समझना चाहिए। पुष्पहार में सूत्र की तरह समस्त भूतों में अविभक्त रूप से विलसित भगवान को भली भांति पहचानकर अपना जन्म सार्थक बनाना चाहिए।

"भूत भर्तृं च, ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च" -

पैदा करनेवाला, पोषण करनेवाला, लय करनेवाला परमात्मा ही है। सृष्टि स्थिति एवं लयकारक वही है। ब्रह्म, विष्णु एवं शिव रूप तीनों वही है। तमसः परमुच्यते" - ये ब्रह्मांड, मन, बुद्धि आदि तमस में हैं, अर्थात् माया व अविद्या के वश में हैं। परमात्मा उस तमस के परे है। इसलिए माया सम्बन्धी

मलिनता उसे नही छूती। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे अपने निर्मल रूप को भली भांति जान लें, अपने परब्रह्म स्वरूप को पहचान लें और माया एवं अविद्या को अपने निकट पहुँचने न दें। "ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञान गम्यम्" - प्रथम ज्ञान का अर्थ शुद्ध चेतना है। द्वितीय ज्ञान का अर्थ अमानित्वादि गुण हैं। इस अध्याय में परमात्मा को "ज्ञेय" नाम रखा गया। अर्थात् इसका अर्थ है जानने योग्य। संसार की जितनी भी चीजें क्यों न जान लें, यदि परब्रह्म को न जान सकें, तो सब व्यर्थ हैं। क्योंकि सांसारिक माया मोह में फंसे लोग जनन मरण रूपी धारा में बह जाते हैं। भगवान कैसे पाये जा सकते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया कि "ज्ञान गम्यम्"। इसका मतलब है कि अमानित्वादि सद्गुणों से विलसित व्यक्ति भगवान को जान सकता है। "हृदि सर्वस्य विष्ठितम्" - कहा गया कि भगवान सब के हृदय में विद्यमान हैं। सर्वस्य कहने से स्पष्ट है कि पिपीलिकादि से लेकर ब्रह्म तक चराचर जगत् भर में भगवान व्याप्त हैं। अतः जात, पांत, कुल गोत्र एवं वर्ग वर्ण का भेद भूलकर सब को भगवान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न - 'ज्ञेय' रूप परब्रह्म का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - (१) ज्ञेय रूप परब्रह्म पैरों, हाथों, आंखों, कानों, मुखों तथा सिरों से युक्त है (२) सर्वत्र व्याप्त है (३) समस्त इन्द्रियों तथा गुणों को प्रकाशित करता है (४) समस्त इन्द्रयों से रहित है (५) अछूता है (६) सब को भरता है (७) सत्व रजस्त्वमो गुणों से रहित है (८) गुणों का अनुभव करता है (९) प्राणियों के अन्दर बाहर रहता है (१०) हिलता है (११) नहीं हिलता है (१२) अतिसूक्ष्म होने के कारण अज्ञानियों को दिखाई नहीं देता (१३) दूर रहता है (१४) पास भी रहता है (१५) विभाजित नहीं है, पर प्राणियों में विभाजित सा लगता है (१६) प्राणियों की सृष्टि, स्थिति एवं लय का मूल कारण है (१७) सूर्य आदि को प्रकाशित करता

है (१८) अतीत है (१९) चिन्मय रूप है (२०) ज्ञानने योग्य है (२१) अमानित्वादि ज्ञान गुणों के द्वारा जानने योग्य है (२२) समस्त प्राणियों के हृदय में विशेष रूप से विद्यमान है।

१९. इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥

शब्दार्थ - इति = इस प्रकार। क्षेत्रम् = क्षेत्र। तथा = वैसे ही। ज्ञानम् = ज्ञान। ज्ञेयम च = ज्ञेय भी। समासतः = संक्षिप्त। उक्तम् = कहा गया। मद्भक्तः = मेरा भक्त। एतत् = इसे। विज्ञाय = जानकर। मद्भावाय = मेरा स्वरूप पाने के। उपपद्यते = योग्य बनता है।

भावार्थ - इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और जाननेयोग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप से कहा गया। मेरा भक्त इसको तत्त्व से जानकर मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।

व्याख्या - "मद्भक्त एतद्विज्ञाय" - यहाँ कहा गया कि मेरा भक्त इसे जानकर"। इससे स्पष्ट होता है कि जो भक्त नहीं है, वह ज्ञान आदि नहीं जान सकता, अतः ज्ञान एवं ज्ञेय को जानने के लिए पहले भक्त बनना चाहिए। भक्ति रूपी पुष्प से ज्ञान रूपी फल निकलेगा। अतः पहले पहल जीव को सर्वेश्वर तथा सद्गुरुओं के प्रति अचल भक्ति कायम करनी चाहिए। जप तप पूजा आदि से परमात्मा की आराधना करनी चाहिए।

ऐसे भक्तों पर करुणा कर भगवान ज्ञान और ज्ञेय को जान सकने का बुद्धियोग प्रदान करेगा। इससे भक्त, ज्ञानी बनकर भगवत्सायुज्य के योग्य बनेंगे। इस श्लोक के द्वारा स्पष्ट होता है कि भगवद् भक्ति न हो, तो वे चाहे जितने भी महान पंडित व विद्वान क्यों न हों, भौतिक विज्ञान के पारखी क्यों न हों, उन्हें ज्ञेयतत्व का अनुभव नहीं होता। यह भी स्पष्ट होता है कि लोगों को सामान्य भक्ति से तृप्त न होकर साधना की तीव्रता के द्वारा क्रमशः ज्ञान एवं ज्ञेय को भी जानकर मोक्ष प्राप्ति के लिए योग्यता प्राप्त करनी चाहिए।

मोक्ष कौन पा सकते हैं ? इस प्रश्न का सही जवाब भगवानने यहाँ दिया। स्पष्ट बता दिया कि जो ज्ञान एवं ज्ञेय का तत्व अच्छी तरह जानते हैं, वे मोक्ष की प्राप्ति के लिए योग्य हैं। ये ज्ञानादि भी भक्तों को ही प्राप्त होते हैं।

प्रश्न – भगवत्सायुज्य (मोक्ष) कौन पा सकते हैं ?

उत्तर – जो साधक ज्ञान के स्वरूप एवं ज्ञेय को, स्वरूप को अच्छी तरह जानते हैं, वे ही भगवत्सायुज्य पा सकते हैं।

प्रश्न – ज्ञान एवं ज्ञेय को कौन जान सकता है ?

उत्तर – भगवान की भक्ति जिसके हृदय में होती है, वही ज्ञान एवं ज्ञेय को जान सकता है।

२०. प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।।

शब्दार्थ – प्रकृतिम् = प्रकृति। पुरुषं च एव = पुरुष। उभौ अपि = दोनों को। अनादि = अनादि। विद्धि = जानो। विकारान् च = विकारों को। गुणान् च एव = गुणों को। प्रकृति संभवान् = प्रकृतिसे उत्पन्न। विद्धि = जानो।

भावार्थ – प्रकृति और पुरुष, इन दोनों को ही तू अनादि जान और राग - द्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न जान।

व्याख्या – अकसर लोग पूछते हैं कि माया, संसार एवं बंधन का आरंभ कब हुआ ? जिस तरह सोने के बाद स्वप्न शुरू होता है, तो कोई पूछे कि स्वप्न किस समय शुरू हुआ, तो उत्तर कैसे दिया जा सकता है ? इसी प्रकार माया एवं संसार के आरंभ का समय बताना भी मुश्किल है ? इसीलिए माया एवं संसार अनादि बताये गये हैं। परन्तु "अनन्त" नहीं कहे गये। क्योंकि जिस क्षण मनुष्य ज्ञानी बनेगा, उसी क्षण माया एवं संसार आदि से संबंधित बन्धन छूट

जाएंगे। अतः माया आदि को भी अनादि समझकर जीव को भयभीत नहीं होना चाहिए। ज्ञान की प्राप्ति के लिए उसे प्रयत्न करना चाहिए। स्वप्न लोक में जिस तरह स्वप्न अनादि सा तो लगता है, मगर जागृत होते ही वह लुप्त हो जाता है। इसी प्रकार माया तथ संसार आदि के बारे में समझना चाहिए।

"विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति संभवान्" - प्रकृति एवं पुरुष इन दोनों में पुरुष (आत्मा) नित्य शुद्ध है। उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता। काम, क्रोध, सुख, दुःख आदि सभी के जब तक जीव शिकार बना रहेगा, तब तक समझना चाहिए कि पुरुष अभी बंधनों में ही बंधा है, निर्विकार परमात्मा को प्राप्त नहीं हुआ है। जब मनोविकार होंगे, तब जीव को सतर्क रहना चाहिए। समझना चाहिए कि ये प्रकृति से संबंधित हैं, ये मेरे विकार नहीं है, मैं इनका साक्षी मात्र हूँ। इस तरह की भावना जब जीव के हृदय में स्थित होगी, तब उसका हृदय मेरु पर्वत की तरह स्थिर रहेगा और पारमात्मा से मिलने का मार्ग प्रशस्त होगा।

सम्बन्ध - तीसरे श्लोक में, जिससे जो उत्पन्न हुआ है, यह बात सुनने के लिये कहा गया था, उसका वर्णन पूर्व श्लोक के उत्तरार्द्ध में कुछ किया गया। अब उसीकी कुछ बात इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें कहते हुए इसके उत्तरार्द्ध में और इक्कीसवें श्लोक में प्रकृति में स्थित पुरुष के स्वरूप का वर्णन किया जाता है -

२१. कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

शब्दार्थ - कार्य करण कर्तृत्वे = कार्य करण को उत्पन्न करने में। प्रकृतिः = प्रकृति (माया)। हेतुः = हेतु। उच्यते = कहा जाता है। सुख दुःखानाम् = सुख दुःखों के। भोक्तृत्वे = भोक्तापन में। पुरुषः = पुरुष। हेतुः = हेतु। उच्यते = कहा जाता है।

भावार्थ – कार्य और करण को उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखों के भोक्तापन में अर्थात् भोगने में हेतु कहा जाता है।

व्याख्या – कार्य माने शरीर है। करण माने इन्द्रिय,मन, बुद्धि, अहंकार, पंचभूत और शब्द आदि विषय हैं। इन सब को पैदा करनेवाली प्रकृति है। प्रकृति जड है। इसलिए वह सुखदुःख का अनुभव नहीं करती। पुरुष चिद्रूप है। असंग है। अतः सुख दुःख का वह भोक्ता नहीं बनता। फिर भी ऐसा लगता है कि प्रकृति के संयोग से पुरुष सुख एवं दुःखों का अनुभव कर रहा है। वास्तव में कतृर्त्व व भोक्तृत्व की जिम्मेदारी उसकी नहीं रहती।

२२. पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

शब्दार्थ – प्रकृतिस्थः = प्रकृति में स्थित। पुरुषः = पुरुष (जीव)। प्रकृतिवान् = प्रकृति से उत्पन्न। गुणान् = गुणों को। भुङ्क्तेहि = भोगता है। गुणसङ्गः = गुणों का सङ्ग ही। अस्य = इस जीव को। सदसद्योनिजन्मसु = अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का। कारणम् = कारण (है)।

भावार्थ – प्रकृति में स्थित पुरुष प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का सङ्ग ही इस जीवात्मा के अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेने का कारण है।

व्याख्या – इस श्लोक में बताया गया कि जीव सांसारिक बन्धनों में क्यों जकडा है और उत्तम एवं अधम जन्म क्यों पाता है। प्रकृति के गुणों (सत्व रज तथा तम) से और उन गुणों से जन्मे सांसारिक पदार्थों का संयोग ही जीव के लिए बंधन का कारण बन रहा है। वास्तव में पुरुष निर्विकार है। जन्म वर्जित है। दृग्रूप है। परन्तु देह एवं इन्द्रियों, सांसारिक पदार्थों में लगकर, काम क्रोध एवं अहंकार रूपी विकारों का शिकार वनने के कारण जनन मरण पा रहा है। इस रहस्य को जानकर जीव उनसे मुक्त रहे, तो जनन मरण एवं सांसारिक दुःख आदि से मुक्त होगा। एक बंडे कारखाने में अनेक चक्र एवं यंत्र काम करते रहते हैं। परन्तु

मलूस्थान में एक बडा चक्र होता है। उससे लगा 'बेल्ट' अगर तुड जाय, तो हजारों यंत्र सब एकदम रुक जाते हैं। इसी तरह जनन मरण आदि से युक्त सांसारिक यंत्र सब तब रुक जाते हैं, जब जीव गुणों तथा प्रकृति का संग छोड देता है। तब मोक्ष के वह पात्र बनता है।

प्रश्न - जीव उत्तम और नीच जन्म क्यों पाता है ?

उत्तर - गुण, प्रकृति, उपाधि से जीव का जो संयोग होता है, वही उसके जन्म एवं दुःख का कारण है।

प्रश्न - जन्म राहित्य का उपाय क्या है ?

उत्तर - विवेक के द्वारा प्रकृति, गुण, उपाधि एवं दृश्य विषयों के साथ जब जीव संग त्यज देता है, तब वह जन्म राहित्य पाता है।

सम्बन्ध - इस प्रकार प्रकृतिस्थ पुरुष के स्वरूप का वर्णन करने के बाद अब जीवात्मा और परमात्मा की एकता करते हुए आत्मा के गुणातीत स्वरूप का वर्णन करते हैं -

२३. उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥

शब्दार्थ - पुरुषः = पुरुष। (आत्मा)। अस्मिन् देहे अपि = इस शरीर में रहने पर भी। परः = शरीर से भिन्न। उपद्रष्टा = साक्षी केरूप में रहनेवाला। अनुमन्ता च = अनुमति देनेवाला। भर्ता = भर्ता। भोक्ता = भोक्ता। महेश्वरः = परमेश्वर। परमात्मा इति च = परमात्मा (ऐसा)। उक्तः = कहा गया।

भावार्थ - इस देहमें स्थित यह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। वही साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होने से अनुमन्ता, सब का धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूप से भोक्ता, ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा - ऐसा कहा गया है।

व्याख्या – 'उपद्रष्टा' – यज्ञ में 'उपद्रष्ट' नामक व्यक्ति साक्षीमात्र रहता है। इसी प्रकार आत्मा यद्यपि शरीर में है तथापि वह शरीर के परे रहकर देह एवं इन्द्रियों का साक्षी बना रहता है। ज़ीव को चाहिए कि वह अच्छी तरह समझ ले कि वह देह एवं इन्द्रिय रूप नहीं है। वह तो परमात्मा का ही स्वरूप है।

"महेश्वरः, परमात्मा, देहेऽस्मिन्" – कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि जगन्नाथ परमेश्वर परमात्मा इस देह में ही रहता है। भगवान जीव के अति समीप है, अतः उसे आसानी से पा सकता है। अतः प्राणियों को चाहिए कि वे पाप कर्म न करें और पुण्यकर्मों में लगे रहें।

'परः' कहा गया। इससे ज्ञात होता है कि आत्मा देह, उपाधि से सम्बन्धित न रहकर उससे परे रहता है। "परः पुरुषः" का अर्थ परम पुरुष, परमात्मा लिया जा सकता है।

प्रश्न – परमात्मा कैसा है ?

उत्तर – (१) शरीर में रहते हुए भी उससे परे रहता है। (२) साक्षी बनकर रहता है। (३) अनुमति देता है। (४) भरण करता है। (५) अनुभव करता है। (६) बडा नियामक (परमेश्वर) है।

सम्बन्ध – इस प्रकार गुणों के सहित प्रकृति के और पुरुष के स्वरूप का वर्णन करने के बाद अब उनको यथार्थ जानने का फल बतलाते हैं –

२४. *य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।*
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

शब्दार्थ – यः = जो। एवम् = इस प्रकार। पुरुषम् = पुरुष को। गुणैः सह= गुणों से युक्त। प्रकृतिम् च = प्रकृति को। वेत्ति = जान रहा है। सः = वह। सर्वथा वर्तमानः अपि = सब प्रकार से वर्तमान रहता हुआ भी। भूयः = फिर से। न अभिजायते = नहीं जन्मता।

भावार्थ - इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तत्त्व से जानता है, वह सब प्रकार से कर्तव्य कर्म करता हुआ भी फिर नहीं जन्मता।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि किस तरह पुनर्जन्म नहीं होगा और मोक्ष प्राप्त होगा! पुरुष कैसा है ? प्रकृति कैसी है ? इन प्रश्नों का परिशीलन कर सकनेवाला साधक दृक् एवं दृश्य का विवेचन कर सकता है। ऐसा विवेचक त्रिगुणात्मक बन्धजनक एवं दुःखदायक प्रकृति का आश्रय नहीं लेगा। गुण रहित एवं परमानन्दरूप पुरुष (आत्मा) का ही वह आश्रय लेगा। इससे वह फिर से जन्म नहीं लेता। मुक्त होता है। "सर्वथा वर्तमानोऽपि" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि वह समाधि निष्ठ हो, प्रजोपयोगी कर्म करता हो तथा ब्रह्मचर्याश्रम में हो, तो वह पुनर्जन्म नहीं पाता। वह सदा मुक्त ही रहता है। विवेकवान साधक सदा सत्कर्म ही करता रहेगा।

प्रश्न - प्रकृति एवं पुरुष सम्बन्धी ज्ञान पावें, तो क्या फल मिलेगा ?

उत्तर - वैसा ज्ञान पावें, तो जन्म राहित्य प्राप्त होगा। वह फिर से जन्म नहीं पाएगा।

सम्बन्ध - इस प्रकार गुणों के सहित प्रकृति और पुरुष के ज्ञान का महत्त्व सुनकर यह इच्छा हो सकती है कि ऐसा ज्ञान कैसे होगा ? इसलिये अब दो श्लोकों द्वारा भिन्न-भिन्न अधिकारियों के लिये तत्त्वज्ञान के भिन्न-भिन्न साधनों का प्रतिपादन करते हैं -

२५. *ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।*
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

शब्दार्थ - आत्मानम् = आत्मा को। केचित् = कुछ लोग। आत्मना = शुद्ध मन से। ध्यानेन = ध्यान योग के द्वारा। आत्मनि = अपने में। पश्यन्ति = देखते हैं। अन्ये =और कुछ लोग। सांख्येन योगेन = सांख्ययोग से। अपरे = और कुछ लोग। कर्मयोगेन = कर्म योग के द्वारा। (पश्यन्ति = देखते हैं)।

भावार्थ – उस परमात्मा को कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोग के द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोग के द्वारा देखते हैं, अर्थात् प्राप्त करते हैं।

व्याख्या – लोग अपने अपने अंतः करण के अनुसार भिन्न भिन्न संस्कार पाते हैं। उन संस्कारों के अनुसार ही वे भगवान के बारे में प्रयत्न करते हैं। कुछ लोग ध्यान में, कुछ लोग भक्ति में, कुछ लोग ज्ञान में और कुछ लोग कर्म में रुचि रखते हैं। यहाँ बताया गया कि किसी भी मार्ग से प्रयत्न करें, परन्तु शुद्ध चित्त से हो, तो भगवान का साक्षात्कार कर सकते हैं। मार्ग भिन्न हैं, मगर लक्ष्य एक है। लोग अपने अपने मार्ग का अनुसरण स्वेच्छा से कर सकते हैं। सब का लक्ष्य वही एक मात्र परमात्मा ही है। यही बात इस श्लोक में बतायी गयी। अगले श्लोक में भी यही बात बतायी जा रही है। यहाँ ध्यानयोग, सांख्ययोग (ज्ञानयोग) तथा कर्मयोग नामक तीन योगों के बारे में बताया गया। चूँकि ध्यानयोग एवं भक्तियोग दोनों अंतर्भूत हैं, अतः उनके बारे में यहाँ विशेष रूप से बताया नहीं गया।

पश्यन्ति (देख रहे हैं) कहने से ज्ञात होता है कि भगवान परोक्ष वस्तु नहीं, प्रत्यक्ष रूप से लोग उसे देख सकते हैं। अतः दैव की प्राप्ति के बारे में लोगों को सन्देह करने की जरूरत नहीं है। अब यह सन्देह भी अनावश्यक है कि भगवान है या नहीं। क्योंकि भगवान श्रीकृष्णने स्पष्ट बता दिया कि तुम भगवान को देख सकते हो। महातमा ध्यान आदि के द्वारा भगवान को देख रहे हैं।

"आत्मनि" (अपने में ही) कहा गया। इससे स्पष्ट है कि परमात्मा अपने में ही स्थित है। इससे भगवान की समीपता स्पष्ट होती है। भगवान कहीं बाहर नहीं, अपने में ही है, कहने से अपने ही हृदय में स्थित भगवान को प्राप्त करने का प्रयत्न करना ही एक मात्र साधन है। आत्मना कहने से किसी भी मार्ग का अनुकरण साधक कर सकता है। आत्मरूप का साक्षात्कार करना ही मोक्ष

की चाबी है। वह चाबी सब के हाथ में ही है। उसे पाने के लिए पहले अपने मन को शुद्ध कर लेना चाहिए। अपने मन का संस्कार कर परमात्मा की ओर अग्रसर होना ही मुक्ति का साधन है।

आम तौर पर कुछ लोग कर्मयोग को कम एवं ज्ञानयोग को अधिक महत्त्व देते हैं। परन्तु भगवानने यहाँ कर्मयोग को ज्ञान एवं ध्यान योगों के साथ समान स्तर देकर उसका आदर किया। वास्तव में निष्काम कर्मयोग चित्त शुद्धि के द्वारा ज्ञान के आविर्भाव का कारण बनकर भगवान का साक्षात्कार कराता है।

प्रश्न – लोग परमात्मा का साक्षात्कार कहाँ कर सकते हैं ?

उत्तर – अपने ही हृदय में कर सकते हैं।

प्रश्न – किसके द्वारा कर सकते हैं ?

उत्तर – शुद्ध मन के द्वारा कर सकते हैं।

प्रश्न – किस प्रकार कर सकते हैं ?

उत्तर – कुछ साधक ध्यानयोग के द्वारा करते हैं। कुछ सांख्य योग (ज्ञान) के द्वारा करते हैं और कुछ कर्मयोग के द्वारा करते हैं।

२६. ***अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।***
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

शब्दार्थ - अन्येतु = और कुछ लोग। एवम् = इस प्रकार। अजानन्तः = न जानते हुए। अन्येभ्यः = दूसरों से। श्रुत्वा = सुनकर। उपासते = उपासना करते हैं। श्रुति परायणाः = श्रवण परायण। ते अपि च = वे भी। मृत्युम् = मृत्यु को। अति तरन्ति एव = तर जाते हैं।

भावार्थ - परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरों से अर्थात् तत्त्व के जाननेवाले पुरुषों से सुनकर ही तदनुसार

उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार सागर को निःसन्देह तर जाते हैं।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि ध्यान एवं ज्ञान योग के बारे में जो जान नहीं सकते, वे श्रद्धा के साथ अनुभवियों से सुनकर अनुष्ठान करें, तो मृत्यु रूपी संसार को पार कर सकते हैं। "अजानन्तः" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि योग का ज्ञान, विद्या एवं विद्वत्ता के न होने पर भी श्रद्धा, भक्ति एवं अनुष्ठान के द्वारा भव सागर को पार किया जा सकता है। यहाँ अनुष्ठान मुख्य है। इसीलिए "उपासते" शब्द भी जोडा गया है। केवल विद्या, केवल श्रवण काफी नहीं है। उनके साथ अनुष्ठान भी आवश्यक है। वास्तव में तत्त्वज्ञान तथा विद्या का न होना ठीक नहीं है। उनका होना ही ठीक है। किसी कारणवश वे न हों, तो दूसरों से दैव धर्म, परमार्थ के बारे में सुनकर ही सही उनका अनुष्ठान कर तर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि शास्त्र विज्ञान से अपरिचित एवं अनपढ लोगों को निराश होने की जरूरत नहीं है। महात्माओं से आध्यात्मिक रहस्यों का श्रवण कर उन्हें आचरण में लाकर तर सकते हैं। बाकी साधकों की तरह ये भी भवसागर को तर सकते हैं।

"मृत्युम्" - यहाँ सांसारिक बंधन को पार करते हैं न कह कर "मृत्यु को पार करते हैं" कहा गया। इससे स्पष्ट है कि संसार की स्थिति केवल मृत्यु के रूप में है। मृत्युमय है। मृत्यु एवं संसार की स्थिति को भगवान ने एकार्थवाचक रूप में प्रयुक्त किया है। इस बात पर साधकों को ध्यान देना चाहिए और मृत्यु रूपी सांसारिक सुखों के प्रति आसक्त न होकर मरणरहित परमात्मा के साथ मिलकर एक होने का प्रयत्न करना चाहिए -

प्रश्न - शास्त्रज्ञान तथा योगशास्त्र से अपरिचित लोग कैसे तर सकते हैं ?

उत्तर - दूसरों से सुनकर अनुष्ठान के द्वारा तर सकते हैं।

प्रश्न – मृत्यु को मनुष्य कैसे पार कर सकता है ?

उत्तर – दैव सम्बन्धी तत्त्व बडों से सुनकर उस प्रकार आचरण करें, तो मृत्यु को मनुष्य पार कर सकता है।

सम्बन्ध – इस प्रकार परमात्मसम्बन्धी तत्त्वज्ञान के भिन्न-भिन्न साधनों का प्रतिपादन करके अब तीसरे श्लोक में जो 'यादृक्' पद से क्षेत्र के स्वभाव को सुनने के लिये कहा था, उसके अनुसार भगवान् दो श्लोकों द्वारा उस क्षेत्रको उत्पत्ति- विनाशशील बतलाकर उसके स्वभाव का वर्णन करते हुए आत्मा के यथार्थ तत्त्व को जाननेवाले की प्रशंसा करते हैं –

२७. *यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।*
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥

शब्दार्थ – भरतर्षभ = भरतवंश के श्रेष्ठ हे अर्जुन । स्थावरजङ्गमम् = चराचरात्मक । सत्वम् = वस्तु । यावत् किंचित् = जो जो । संजायते = पैदा होती है। तत् = वह। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयोगात् = क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से। विद्धि = (उत्पन्न) जानो।

भावार्थ – हे अर्जुन ! जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोग से ही उत्पन्न जान।

व्याख्या – यहाँ बताया गया कि संसार मं कोई भी चीज क्षेत्रज्ञ परमात्मा के संयोग के बिना उत्पन्न नहीं होती। इसलिए समस्त प्राणियों पर दया दिखानी चाहिए। कोई पूछे कि क्या भगवान का संयोग न हो, तो पत्थर पैदा नहीं होता? जड पदार्थ की ही यह बात है, तो चैतन्य पदार्थ के बारे में कहने की आवश्यक्ता ही नहीं। इसलिए सब को समझना चाहिए कि भगवान सब में है। पत्थर में है। पौधे में है। पशु में है। पक्षी में है। चांडाल में है। ब्राह्मण में है।

प्रश्न – स्थावर जंगम पदार्थों का आविर्भाव कैसे हो रहा है ?

उत्तर – क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के संयोग से उनका आविर्भाव हो रहा है।

२८. *समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।*
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

शब्दार्थ – सर्वेषु भूतेषु = समस्त प्राणियों में। समम् = समान रूप से। तिष्ठन्तम् = स्थित। परमेश्वरम् = परमात्मा को। विनश्यत्सु = नष्ट होते हुए। अविनाश्यन्तम् = नाशरहित। यः = जो। पश्यति = देखता है। सः = वह। पश्यति = (सचमुच) देखता है।

भावार्थ – जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है।

व्याख्या – भगवान कुछ प्राणियों में ज्यादा और कुछ प्राणियों में कम, ऐसी बात नहीं है। वह सब में पुष्पमाला के सूत्र की तरह समान रूप से स्थित हैं। इसीलिए "समम्" कहा गया। 'सर्वेषु' कहने से स्पष्ट है कि वह समस्त प्राणि जगत् में स्थित है। "विनश्यत्स्व विनश्यन्तम्" – यद्यपि देह आदि का अन्त होता है, तथापि उसमें स्थित आत्मा व परमेश्वर नष्ट नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि देह आदि समस्त दृश्य जगत् नाशवान है, एक आत्मा ही अविनाशी है। अतः ऐसे नाशवान देहादि दृश्यजगत् पर ममता न बढानी चाहिए। केवल शाश्वत आत्म पदार्थ का ही अन्वेषण करना चाहिए।

"यः पश्यति सपश्यति" – यहाँ बताया गया कि वे ही यथार्थ में देख सकनेवाले हैं, जो यह जानते हैं कि देहादि नश्वर हैं, केवल आत्मा ही शाश्वत है। इस सत्य को जो जान नहीं पाते, वे सब नेत्रों के होते हुए भी नेत्र विहीन ही हैं। भगवान के द्वारा प्रतिपादित इस सत्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। हर एक को यह सोचना चाहिए कि मैं इस सत्य को देख रहा हूँ या नहीं। फिर अपने अज्ञानांधकार को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। भौतिक नेत्रों के साथ ज्ञाननेत्र भी प्राप्त कर लेना चाहिए।

प्रश्न - परमात्मा कहाँ निवास करते हैं ?

उत्तर - समस्त प्राणियों में निवास करते हैं।

प्रश्न - किस तरह निवास करते हैं ?

उत्तर - सब प्राणियो में समान रूप से निवास करते हैं।

प्रश्न - देहादि का प्रभाव कैसा है ?

उत्तर - नाशवान है।

प्रश्न - आत्मा का स्वभाव कैसा है ?

उत्तर - आत्मा अविनाशी है। वह नष्ट नहीं होता।

प्रश्न - संसार में नेत्रवाला कौन है ?

उत्तर - "देहादि दृश्य पदार्थ यद्यपि नश्वर हैं तथापि आत्मा अनश्वर है" जो लोग यह सत्य जानते हैं, वे यथार्थ में नेत्रवाले हैं।

सम्बन्ध - उपर्युक्त श्लोक में यह कहा गया है। उस परमेश्वर को जो सब भूतों में नाशरहित और समभाव से स्थित देखता है, वही ठीक देखता है। इस कथन की सार्थक्ता दिखलाते हुए उसका फल परमगति की प्राप्ति बतलाते है -

२९. *समं पश्यन्हि सर्वत्रा समवस्थितमीश्वरम्।*
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

शब्दार्थ - हि = क्योंकि। सर्वत्र = समस्त प्राणियों में। समवस्थितम् = समभाव से स्थित। ईश्वरम् = ईश्वर को। समम् = समान रूप से। पश्यन् = देखते हुए। आत्मना = अपने से। आत्मानम् = आत्मा को। न हिनस्ति = नष्ट नही करता। ततः = इसलिए। परांगतिम् = सर्वोत्तम गति को। याति = प्राप्त होता है।

भावार्थ - क्योंकि जो पुरुष सब में समभाव से स्थित परमेश्वर को समान देखता हुआ अपनेद्वारा अपने को नष्ट नहीं करता, वह परम गतिको प्राप्त होता है।

व्याख्या - "समं, सर्वत्र तथा समवस्थितम्" तीन शब्दों का प्रयोग किया गया। इससे समझना चाहिए कि (१) भगवान समान रूप से बरत रहा है (२) सर्वत्र बरत रहा है (३) भली भांति बरत रहा है। जो यह सत्य जानकर अपनी आत्मा को जान सकता है, वह अपनी आत्मा को नष्ट नहीं करता। परन्तु जो आत्मा को नहीं जानता, वह अपनी आत्मा को सताता है। जो सांसारिक झंझटों में फंसता है, वह अपनी आत्मा को सताता है। इससे स्पष्ट है कि अपनी अपनी सांसारिक यातनाओं के जिम्मेदार स्वयं जीव ही हैं। आत्मा को जानने से जीव मुक्ति पाता है। दुःखों से छुटकारा पाता है। इसलिए विज्ञ पुरुषों को चाहिए कि वे अपनी आत्माको न सतावें, आत्महत्या पर न तुलें, सर्वत्र समान रूप से व्याप्त परमात्मा को समझें, फलस्वरूप मोक्ष प्राप्त करें। मोक्ष को परांगतिम (उत्तम गति) कहा गया। इससे स्पष्ट है कि संसार के सभी पदों से आत्मसाक्षात्कार की स्थिति ही सर्वोत्तम है।

प्रश्न - परमात्मा सब में किस तरह व्याप्त हैं ?

उत्तर - समान रूप से व्याप्त हैं।

प्रश्न - संसार में जीवों के दुःखों के कारण क्या हैं ?

उत्तर - सर्वत्र संसार में व्याप्त परमात्मा को देख न पाना ही दुःख का कारण है।

प्रश्न - उस दुःख के जिम्मेदार कौन है ?

उत्तर - जो अपनी आत्मा को न जानकर दुःख पाता है, वह दुःख के लिए जिम्मेदार है।

प्रश्न - सांसारिक यातनाओं से छूटने का मार्ग क्या है ?

उत्तर - सर्वत्र समान रूप से व्याप्त परमात्मा को जानना ही एक मात्र मार्ग है।

प्रश्न - संसार के पदों में सर्वश्रेष्ठ पद क्या है ?

उत्तर - आत्म साक्षात्कार एवं मोक्ष ही सर्वश्रेष्ठ पद है।

प्रश्न – मोक्षप्राप्ति का उपाय क्या है ?

उत्तर – यह समझकर कि परमात्मा सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है, अपने हृदय में उसका साक्षात्कार करना ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है।

३०. प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

शब्दार्थ – यः = जो। कर्माणि = कर्मों को। प्रकृत्या एव = प्रकृति के द्वारा ही। सर्वशः = सब तरह से। क्रियमाणानि = किये जाते हुए। तथा = वैसे ही। आत्मानम् = आत्मा को। अकर्तारं = अकर्ता। पश्यति = देखता है। सः = वह। पश्यति = (यथार्थ) देखता है।

भावार्थ – और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है।

व्याख्या – संसार में समस्त कर्म प्रकृति ही कर रही है। आत्मा तटस्थ है, साक्षी के रूप में है। वास्तव में आत्मा करता नहीं है। पर उनको समीप रखकर प्रकृति ही सब कुछ कर रही है। जो यह सत्य जानेगा, वह यथार्थ दृष्टिवाला बनेगा। वही वास्तव में देखनेवाला है। बाकी सब आंखों के होते हुए भी सत्य को देख नहीं सकते। संसार में ऐसे लोग ज्यादा हैं, जो कर्तृत्व आदि का आरोप आत्मा पर करके कहते रहते हैं कि मैं करता हूँ। मैं दुःख उठाता हूँ। ऐसे लोग यथार्थ को देखनेवाले नहीं हैं। आंखों के होते हुए भी वे सत्य को देख नहीं पाते। इसलिए उन्हें ज्ञाननेत्र प्राप्त करना चाहिए। नहीं तो वे भगवान की दृष्टि से ज्ञान विहीन ही हैं। वे अन्धकार (अविद्या) में जीवन बितानेवाले बने रहते हैं।

प्रश्न – संसार में सब कर्म किसके द्वारा किये जाते हैं ?

उत्तर – प्रकृति के द्वारा किये जाते हैं।

प्रश्न – आत्मा क्या करता है ?

उत्तर - वह कुछ नहीं करता। वह अकर्ता है। उसके सान्निध्य के आधार पर प्रकृति सब काम करती है।

प्रश्न - इस संसार में यथार्थ में आंखोंवाला कौन है ?

उत्तर - संसार में वही यथार्थ में आंखोंवाला है, जो यह जानता है कि प्रकृति के द्वारा ही समस्त कार्य किये जाते हैं। आत्मा अकर्ता है। बाकी सब आंखों के होते हुए भी यथार्थ नहीं देखते।

३१. यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥

शब्दार्थ - यदा = जब। भूतपृथग्भावम् = एक परमात्मा में स्थित। च = और। ततः एव = उसी में से। विस्तारम् = विस्तार को। अनुपश्यति = देखता है। तदा = तब। (सः = वह)। ब्रह्म = ब्रह्म को। संपद्यते = प्राप्त करता है।

भावार्थ - जिस क्षण यह पुरुष भूतों के पृथक्-पृथक् भाव को एक परमात्मा में ही स्थित तथा उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या - प्राणियों से युक्त यह लोक यद्यपि अलग-अलग दीखता है, तथापि वास्तव में वह एक ही है।

एक ही परमात्मा में वह अलग अलग रूप से कल्पित किया गया है। अतः ये अलग अलग रूप सत्य नहीं हैं। आत्मा ही सत्य है। जब जीव यह रहस्य जान लेगा, तब वह स्वयं ब्रह्म रूप धारण कर लेगा।

"अनुपश्यति" - पश्यति न कहकर अनुपश्यति कहा गया। इससे स्पष्ट है कि उस एकता को बार बार अभ्यास के द्वारा अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

"ब्रह्म संपद्यते तदा" - यहाँ बताया गया कि मनुष्य मोक्ष कब पा सकेगा। उसके लिए अलग रूप से समय निश्चित नहीं किया जा सकता। जब

मनुष्य भिन्न भिन्न रूपों में स्थित इस जगत् को परमात्मा में स्थित एकरूप मान सकेगा, उसे उस रूप में जान सकेगा, तब वह ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सकेगा और ब्रह्म रूप पा सकेगा।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस संसार में अनेकता को देखना बन्धन का लक्षण है, एकता देखना मोक्ष का लक्षण है। अतः विज्ञ मुमुक्षु को चाहिए कि वह अनेकता में एकता के दर्शन करे, सच्चिदानन्द ग्रहण करे।

प्रश्न – मनुष्य ब्रह्म को कब पा सकेगा ?

उत्तर – जब मनुष्य भिन्न रूपों में स्थित इस जगत् को एक रूप में देख सकेगा, जब वह समझ सकेगा कि उस एक रूप परमात्मा से ही समस्त जगत् विस्तरित है, तब वह ब्रह्म को पा सकेगा।

३२. अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।।

शब्दार्थ – कौन्तेय = हे अर्जुन। अनादित्वात् = अनादि होने से। निर्गुणत्वात् = निर्गुण होने से। अव्ययः = अविनाशी। अयं परमात्मा = यह परमात्मा। शरीरस्थ अपि = शरीर में स्थित होने पर भी। न करोति = नहीं करता। न लिप्यते = लिप्त नहीं होता।

भावार्थ – हे अर्जुन ! अनादि होने से और निर्गुण होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होने पर भी वास्तव में न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है।

व्याख्या – संसार के सभी पदार्थ आदि एवं अन्त रहित हैं। गुणातीत हैं। अविनाशी हैं। संगरहित है। इसलिए यद्यपि शरीर, मन, बुद्धि आदि कई कर्म करते हैं, तथापि परमात्मा आत्म साक्षी के रूप में स्थित है। "शरीरस्थोऽपि" – इससे स्पष्ट है कि परमात्मा दूर नहीं है। अपने शरीर में ही है। अतः अपने शरीर में स्थित उस परमात्मा को समझने का प्रयत्न मनुष्य को करना चाहिए।

शरीर को देवमन्दिर मानकर पाप कर्मों से दूर रहना चाहिए। आत्मा को मंदिर की मूर्ति मानकर पवित्र भावों से विलसित रहना चाहिए।

सम्बन्ध - शरीर में स्थित होनेपर भी आत्मा क्यों लिप्त नहीं होता ? इस पर कहते हैं -

३३. यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

शब्दार्थ - सर्वगतम् = सर्वत्र व्याप्त। आकाशम् = आसमान। सौक्ष्म्यात् = सूक्ष्म होने से। यथा = जिस प्रकार। न लिप्यते = लिप्त नहीं होता। तथा = उसी प्रकार। सर्वत्र देहे = देह भर में। अवस्थितः = स्थित। आत्मा = परमात्मा। न उपलिप्यते = लिप्त नहीं होता।

भावार्थ - जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देह में सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होने के कारण देह के गुणों से लिप्त नहीं होता।

व्याख्या - दृश्यजगत् में सूक्ष्म पदार्थ आकाश है। इसलिए उसे दृष्टांत के रूप में लेकर आत्मा की निर्लेपता, सर्वव्यापकता, सूक्ष्मता तथा निर्मलता का बोध कराया गया। छोटे छोटे उदाहरणों के द्वारा बडी बडी बातें बताना गीता की विशेषता है। आसमान कहने से किसी को समझना नहीं चाहिए कि आत्मा आसमान की तरह अतिसूक्ष्म है। यद्यपि मेघ में कई बिजलियाँ, कालिमा, शीतलता, जल और ओले आदि होते हैं, तथापि उसके गुण दोषों से आसमान अछूता रहता है। उसी प्रकार शरीर एवं मन से सम्बन्धित सुख दुःख आदि से आत्मा अछूता रहता है। साधक को समझना चाहिए कि वास्तव में बह आत्मस्वरूप है। देह आदि का साक्षी मात्र है। अतः शरीर सम्बन्धी सुख दुःखों से वह मुक्त है।

"सर्वत्रावस्थितो देहे" - भगवान जीव के अति समीप उसके शरीर

में ही है। इसलिए पवित्र आचरण के द्वारा अपने हृदय में ही उसके दर्शन कर लेना चाहिए। उसे यह समझकर कि यह शरीर देव मंदिर है, पाप संकल्पों तथा पाप कर्मों से दूर रहना चाहिए। इसमें जात पांत एवं वर्ग-वर्ण का कोई भेद नहीं होता। प्रयत्न करनेवाले अनन्य साधकों को परमात्मा अवश्य प्राप्त होगा।

प्रश्न - परमात्मा का स्वभाव कैसा है ?

उत्तर - वह यद्यपि शरीर में है, तथापि निर्लेप एवं देह सम्बन्धी सुख-दुःख आदि से अछूता रहता है।

सम्बन्ध - शरीर में स्थित होने पर भी आत्मा कर्ता क्यों नहीं है ? इस पर कहते हैं -

३४. यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

शब्दार्थ - भारत = हे अर्जुन। एकः = एक ही। रविः = सूर्य। इमम् = इस। कृत्स्नम्= समस्त। लोकम् = लोक को। यथा = जिस प्रकार। प्रकाशयति = प्रकाशित करता है। तथा = उसी प्रकार। क्षेत्री = क्षेत्रज्ञ। कृत्स्नम् = समस्त। क्षेत्रम् = क्षेत्र को। प्रकाशयति = प्रकाशित करता है।

भावार्थ - हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

व्याख्या - भगवान आत्मा की निर्लिप्तता का स्पष्टीकरण आकाश के दृष्टांत के द्वारा कर अब सूर्य के प्रकाशतत्व का बोध कराते हैं। सूर्य समस्त लोक का साक्षी बना हुआ है। इस लोक को प्रकाशित कर रहा है। इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ परमात्मा देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा दृश्य जगद्रूप समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करते हुए सब का साक्षी बना हुआ है। सूर्य न हो, तो जिस प्रकार जग निर्वीर्य बनता है, उसी प्रकार आत्मतेज न हो, तो देह, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदि सभी शक्तिहीन बन जाते हैं।

भगवान ने जिन दृष्टांतों के द्वारा आत्मा की निर्लिप्तता, प्रकाशिता एवं उसके साक्षी स्वरूप का स्पष्टीकरण किया, उसका चिन्तन एवं मनन साधकों को करना चाहिए। अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि वह असंग चिद्रूप ही है न कि देह, इन्द्रिय आदि जड पदार्थ।

प्रश्न – परमात्मा इस समस्त संसार को किस प्रकार प्रकाशित कर रहा है ?

उत्तर – जिस प्रकार सूर्य समस्त लोक को प्रकाशित कर रहा है, उसी प्रकार परमात्मा समस्त लोक को प्रकाशित कर रहा है।

३५. क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

शब्दार्थ – ये = जो। ज्ञान चक्षुषा = ज्ञान चक्षु से। एवम् = इस प्रकार। क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोः = क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के। अन्तरम् = भेद को। भूत प्रकृति मोक्षं च = भूत प्रकृति (अविद्या) से मुक्त होने का तत्व। विदुः = जानता है। ते = वे। परम् = परमात्मा का पद। यान्ति = पाते हैं।

भावार्थ – इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा कार्यसहित प्रकृति से मुक्त होने को जो पुरुष- ज्ञान- नेत्रोंद्वारा तत्त्व से जानते हैं, वे महात्मा जन परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या – 'एवम्' कहने से स्पष्ट है कि इस अध्याय में सूचित दृग्दृश्यविवेक तथा क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी ज्ञान ही कैवल्य की प्राप्ति का कारण है। इसलिए मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे समझ लें कि यह सामान्य नहीं है, वे मोक्ष के सोपान जैसे हैं। उन्हें साधने का अवश्य प्रयत्न करें।

"अन्तरम्" - सामान्य लोग दृग्दृश्य एवं क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को मिला देते हैं। जीव यह समझकर कि मैं ही देह हूँ, मैं ही मन हूँ, मै सुन्दर हूँ, मैं फलानी जाति का हूँ, क्षेत्र से हिल मिल कर एक हो रहा है। यही सब दुःखों का मूल कारण है। वास्तव में जीव क्षेत्रज्ञ आत्मा ही है, न कि क्षेत्र। इस अध्याय में स्पष्ट

बताया गया कि जीव क्षेत्र के साक्षीरूप में स्थित क्षेत्रज्ञ ही है। क्षेत्र जीव से अलग है। सुख दुःख भोगनेवाला क्षेत्र है न कि जीव। इस भावना के साथ ज्ञानदृष्टि से युक्त होकर क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ को अलग अलग देखना चाहिए।

"भूत प्रकृति मोक्षं च" - जीव अनादिकाल से प्रकृति (माया) से बद्ध है। अब ज्ञान आदि साधनों के द्वारा उससे मुक्त होने का यत्न कर रहा है। प्रकृति (माया) से मुक्त होना ही हर जीव का कर्तव्य है। इस प्रकार की मुक्ति ही मोक्ष है। मोक्ष आकाश, पाताल या अन्य और किसी जगह की वस्तु नहीं है। अज्ञान के कारण अब तक प्रकृति के साथ जीव मिलकर रहा। ज्ञान दृष्टि अर्जित कर उससे (प्रकृति) मुक्त होना ही मोक्ष पाना है। इसीलिए 'ज्ञान चक्षुसा' कहा गया। अकसर लोग पूछा करते हैं कि मुझे मोक्ष क्यों नहीं मिला। इस प्रकार प्रश्न पूछनेवालों को पहले अपना हृदय टटोल कर देख लेना चाहिए कि मुझे ज्ञान चक्षु मिला है कि नहीं। वह ज्ञान दृष्टि चिरकाल तक भगवान की सेवा एवं आराधना करते रहने से ही प्राप्त होती है। भगवानने यहाँ स्पष्ट बता दिया कि परमानन्द की प्राप्ति के लिए यही एक मात्र उपाय है।

"ये विदुर्यान्तिते परम" - यच्छब्द का प्रयोग करने से स्पष्ट होता है कि इस प्रकार प्रयत्न करने में जात-पांत, कुल-गोत्र एवं वर्ग-वर्ण का कोई भेद नहीं है। इससे उद्दीप्त होकर हर मुमुक्षु को सन्देह त्याग कर प्रयत्न करके ज्ञान दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। उसके द्वारा ब्रह्म सायुज्य पाना चाहिए।

प्रश्न - मोक्ष माने क्या है ?

उत्तर - प्रकृति (माया) से मुक्त होना ही मोक्ष है।

प्रश्न - वह मोक्ष कौन पा सकते हैं ?

उत्तर - जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अन्तर अच्छी तरह जानते हैं, वे मोक्ष पा सकते हैं।

प्रश्न - वह भेद किस प्रकार जाना जा सकता है ?

उत्तर - ज्ञान एवं विवेक की दृष्टि से जाना जा सकता है।

प्रश्न - मोक्ष की प्राप्ति का उपाय क्या है ?

उत्तर - ज्ञान दृष्टि प्राप्त कर, क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का अन्तर जानना ही मोक्ष प्राप्त करने का उपाय है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।

यह उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुन संवाद युक्त श्री भगवद्गीता का क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग शीर्षक तेरहवाँ अध्याय है।

- ॐ तत् सत् -

ॐ

श्री भगवद्गीता

अथ : चतुर्दशोऽध्यायः

चौदहवाँ अध्याय

गुणत्रय विभाग योगः

गुणत्रय विभाग योग

इस अध्याय का शीर्षक

गुणत्रय विभागयोग - सत्व, रजस एवं तमस नामक तीन गुण हैं। उनके स्वभाव, उनके लक्षण इस अध्याय में बताये गये हैं। इन गुणों के आश्रय में जाने से जीव कैसे फल पाते हैं, उन्हें पार करने से जीव किस तरह जीवन्मुक्त होते हैं, इस अध्याय में बताया गया है। इसीलिए इस अध्याय का शीर्षक गुणत्रय विभाग योग रखा गया।

इस अध्याय के मुख्य विषय

१. ज्ञान की महिमा, प्रकृति एवं पुरुष से जगत् की उत्पत्ति - (श्लोक १से श्लोक ४ तक)

२. सत्व, रज एवं तमोगुणों का स्वरूप - स्वभाव- (श्लोक ५ से श्लोक १३ तक)

३. उन उन गुणों के फल - (श्लोक १४ से श्लोक १८ तक)

४. भगवान की प्राप्ति के उपाय - (श्लोक १९ से श्लोक २० तक)

५. गुणातीत के लक्षण - (श्लोक २१ से श्लोक २७ तक)

सम्बन्ध - तेरहवें अध्याय में 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के लक्षणों का निर्देश करके उन दोनों के ज्ञान को ही ज्ञान बतलाया और उसके अनुसार क्षेत्र के स्वरूप, स्वभाव, विकार और उसके तत्त्वों की उत्पत्ति के क्रम आदि तथा क्षेत्रज्ञ के स्वरूप और उसके प्रभाव का वर्णन किया। वहाँ उन्नीसवें श्लोक से प्रकृति-पुरुष के नाम से प्रकरण आरम्भ करके गुणों को प्रकृतिजन्य बतलाया और इक्कीसवें श्लोक में यह बात भी कही कि पुरुष के बार-बार अच्छी-वुरी योनियों में जन्म होने में गुणों का सङ्ग ही हेतु है। गुणों के भिन्न-भिन्न स्वरूप क्या हैं, ये जीवात्मा को कैसे शरीर में बाँधते हैं, किस गुण के सङ्ग से किस योनि में जन्म होता है, गुणों से छूटने के उपाय क्या हैं, गुणों से छूटे हुए पुरुषों के लक्षण तथा आचरण कैसे होते हैं - सब बातें जानने की स्वाभाविक ही इच्छा होती है। अतएव इसी विषय का आरम्भ किया गया है। तेरहवें अध्याय में वर्णित ज्ञान को ही स्पष्ट करके चौदहवें अध्याय में विस्तारपूर्वक समझाना है, इसलिये पहले भगवान् दो श्लोकों में उस ज्ञान का महत्त्व बतलाकर उसके पुनः वर्णन की प्रतिज्ञा करते हैं -

श्रीभगवानुवाच

१. परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले। यत् = जिसे। ज्ञात्वा = जान कर। सर्वेमुनयः = सभी मुनि। इतः = इस संसार के बन्धन से। (छूटकर) परांसिद्धिं = सर्वोत्तम मोक्ष। गताः = प्राप्त किया। (तत् = उस)। परम् = परमात्मा से सम्बन्धित। ज्ञानानाम् = ज्ञानों में से। उत्तमम् = उत्तम। ज्ञानम् = ज्ञान। भूयः = फिर से। प्रवक्ष्यामि = बताता हूँ।

भावार्थ - श्री भगवान् बोले ज्ञानों में भी अति उत्तम उस परम ज्ञान को मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसार से मुक्त होकर परम सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं।

व्याख्या - भूयः - फिर से। "पिछले श्लोक में बताये अखण्ड ज्ञान के बारे में फिर से बताता हूँ, सुनो।" भगवान के इस कथन से स्पष्ट होता है कि वे भक्तों पर दया व करुणा रखते हैं। उत्तम गुरु, शिष्य के मन को उद्‌बोधित करने के लिए एक ही विषय बार-बार बतलाते हैं। वक्ष्यामि न कहकर प्रवक्ष्यामि कहने से स्पष्ट होता है कि इस अध्याय में सूचित विषय काफी महत्त्वपूर्ण हैं।

"ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्' - संसार में यद्यपि अनेक ज्ञान (भौतिक ज्ञान, संगीतज्ञान, शिल्पज्ञान तथा गणितज्ञान आदि) हैं, तथापि उन सब में आध्यात्मिक ज्ञान ही भगवान की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ है। यह बात 'परम्' शब्द से स्पष्ट होती है।

"यज्ञात्वा मुनयः सर्वे" - यहाँ बताया गया कि पहले यह ज्ञान जानकर कई मुनींद्र बन्धमुक्त हुए। औषध की श्रेष्ठता उसके प्रभाव से सिद्ध होती है। जिस दवा के सेवन से रोग मिट जाता है, वह श्रेष्ठ मानी जाती है। इसी तरह पूर्वकाल में मुनियोंने इस ज्ञान रूपी दवा का सेवन किया और फलस्वरूप रोग रूपी सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त किया। इससे इस ज्ञान की महत्ता प्रकट होती है। सर्वे कहने से स्पष्ट होता है कि इस ज्ञान से सब साधक तर जाएंगे। मुनयः = मननशील कहने से यह भी स्पष्ट होता है कि वे सब तत्वज्ञान का मनन करके ही कृतार्थ हुए, न कि वाचा ज्ञान से।

"परां सिद्धिम्" - मोक्ष सबसे श्रेष्ठ पद है। साधकों को ज्ञान के उपार्जन के द्वारा सांसारिक विषयों से सैकडों गुना श्रेष्ठ आनन्ददायक उस परमपद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर अपना जीवन धन्य बनाना चाहिए।

प्रश्न – भगवान के द्वारा बोधित ज्ञान कैसा है ?

उत्तर – (१) सब ज्ञानों में श्रेष्ठ है। (२) उसे जानने से सभी लोग तर जाते हैं। मोक्ष प्राप्त करते हैं।

प्रश्न – मोक्ष की स्थिति कैसी है ?

उत्तर – संसार में अन्य सभी पदों से श्रेष्ठ है।

२. इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

शब्दार्थ – इदम् = इस। ज्ञानम् = ज्ञान का। उपाश्रित्य=आश्रय लेकर। मम= मेरा। स्वधर्म्यम् = समान धर्म। आगताः = प्राप्त कर। सर्गे अपि = सृष्टिकाल में भी। न उपजायन्ते = पैदा नहीं होते। प्रलये = प्रलय काल में भी। न व्यथन्ति च = व्यथित नहीं होते।

भावार्थ – इस ज्ञान को आश्रय करके अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए पुरुष सृष्टि के आदि में पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकाल में भी व्याकुल नहीं होते।

व्याख्या – "मम साध्म्र्यमागताः" – भगवान ज्ञान की अखण्ड महिमा बताते हैं। जो यह ज्ञान जानते हैं, वे भगवान में लीन होकर भगवत्स्वरूप ग्रहण करते हैं। इस ज्ञान से जीव शिव बनता है। भक्त भगवान बनता है। 'साधर्मम्' कहने से स्पष्ट होता है कि जीव यह ज्ञान प्राप्तकर भगवान के रूप एवं धर्म प्राप्त करता है। समान धर्मी दो चीजें अलग नहीं रह सकती। एक ही सद्वस्तु संसार में रह सकती है। अतः साधकों को उस महान् पद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर अपने जीवन को धन्य बनाना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि इस सायुज्य से कौन सा फल मिलेगा ? साधक जनन मरण एवं पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाएंगे। वे आनन्दरूप बन

जाएंगे। यही ब्रह्मसायुज्य का फल है। उससे स्पष्ट होता है कि सांसारिक यातनाओं और बन्धनों से मुक्त होने के लिए आत्मज्ञान ही एक मात्र शरण्य है।

प्रश्न - आत्मज्ञान पाने से कौन सा फल मिलता है ?

उत्तर - (१) भगवान से एक होकर भगवत्स्वरूप बनेंगे (२) सृष्टि के समय जन्म नहीं लेते, प्रलय के समय मृत्यु के शिकार नहीं बनते।

प्रश्न - ब्रह्म सायुज्य एवं मोक्ष पाने का उपाय क्या है ?

उत्तर - पारमार्थिक ज्ञान पाना ही उसका उपाय है।

३. मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

शब्दार्थ - भारत = हे अर्जुन। महद्ब्रह्म = महत् ब्रह्मरूप मूल प्रकृति। मम= मेरी। योनिः = योनि है। तस्मिन् = उसमें। अहम्= मैं। गर्भम् = गर्भ स्थापन का चैतन्यमय बीज। दधामि = स्थापित करता हूँ। ततः = उससे। सर्व भूतानाम्=समस्त प्राणियों की। सम्भवः = उत्पत्ति। भवति = होती है।

भावार्थ - हे अर्जुन ! मेरी महत् ब्रह्मरूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है, अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और मैं उस योनि में चेतन-समुदायरूप गर्भ का स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या - इस चराचर जगत् तथा ज़ीवराशि का उद्भव कैसे हो रहा है ? केवल प्रकृति से नहीं होता। क्योंकि वह जड है। प्रकृति एवं पुरुष के संयोग ही से अर्थात् जड प्रकृति से चैतन्य स्वरूप पुरुष के मिलन से सृष्टि का उद्भव हो रहा है। अतः परमात्मा ही हर प्राणी का पिता है। हर जीव का बीज वही है। यही रहस्य इस श्लोक में बताया गया। अतः जात-पांत, कुल-गोत्र, ऊँच -नीच तथा वर्ग-वर्ण का भेद भूलकर हर जीव को प्रयत्नकर

ज्ञान आदि के द्वारा भगवान से मिलकर एक होने का प्रयत्न करना चाहिए। चूँकि हर जीव का बीज परमात्मा ही है, अतः हर जीव पर दया,करुणा करके परोपकार की भावना से व्यवहार करना चाहिए।

प्रश्न - समस्त प्राणी कैसे उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर - प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से प्राणी उत्पन्न होते हैं।

४. सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन। सर्वयोनिषु = सब योनियों में। याः मूर्तयः = जितनी मूर्तियाँ। सम्भवन्ति = पैदा होती हैं। तासाम् = उन्हें। महत् ब्रह्म = मूल प्रकृति। योनिः = कारण। अहम् = मैं। बीजप्रदः पिता = बीज स्थापन करनेवाला पिता हूँ।

भावार्थ - हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, प्रकृति तो उन सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीज का स्थापन करनेवाला पिता हूँ।

व्याख्या - पिछले श्लोक की तरह इसश्लोक में भी स्पष्ट किया गया कि संसार के सभी प्राणी भगवना के ही रूप हैं। उनकी माँ प्रकृति है। पिता परमात्मा हैं।

सम्बन्ध - तेरहवें अध्याय के इक्कीसवें श्लोक में जो यह बात कही थी कि गुणों के सङ्ग से ही इस जीव का अच्छी-बुरी योनियों में जन्म होता है। उसके अनुसार जीवों का नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेने की बात तो चौथे श्लोक तक कही गयी। किन्तु वहाँ गुणों की कोई बात नहीं आयीं। इसलिये अब वे गुण क्या हैं ? उनका सङ्ग क्या है ? किस गुणके सङ्ग से बुरी योनि में जन्म होता है ? - इन सब बातों को स्पष्ट करने के लिये इस प्रकरण

का आरम्भ करते हुए भगवान् अब पाँचवें से आठवें श्लोक तक पहले उन तीनों गुणों की प्रकृतिसे उत्पत्ति और उनके विभिन्न नाम बतलाकर फिर उनके स्वरूप और उनके द्वारा जीवात्मा के बन्धन-प्रकार का क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं -

५. सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥

शब्दार्थ - महाबाहो = बडी बाहुओंवाले हे अर्जुन । प्रकृति सम्भवाः = प्रकृति से उत्पन्नं । सत्वं रजस्तम इति = सत्व, रज एवं तम के । गुणाः = गुण । अव्ययम् = नाशरहित । देहिनम् = आत्मा को । देहे = देह में । निबध्नन्ति = बांधते हैं ।

भावार्थ - हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण - ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीरमें बाँधते हैं ।

व्याख्या - सत्व, रज एवं तम ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न हुए। वे आत्मा के लिए नहीं हैं । आत्मा निर्गुण है । गुणातीत है । तोभी जीव अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मा को भूलकर, उन गुणों से तादात्म्य प्राप्त कर देह एवं संसार के बन्धन में बंधता है । इन तीनों में से किसी एक गुण के भी जब तक जीव वशवर्ती रहेगा, तब तक समझना चाहिए कि अभी वह जीव गुणातीत आत्मा तक पहुँच नहीं सका । अतः उनसे मुक्त होने का प्रयत्न हर जीव को करना चाहिए । रजोगुण एवं तमोगुण के साथ सत्वगुण को भी त्यागने के लिए इसलिए कहा गया कि पूर्ण निस्संकल्प स्थिति या निर्विकल्प स्थिति में कोई भी गुण नहीं रहता । वह सत्वगुण से ऊपर की निर्विकार स्थिति है । अतः सत्वगुण भी बन्धन बनता है । पहले रजोगुण तथा तमोगुण से छूटकर सत्वगुण को अपनाने का अभ्यास करना चाहिए। इसके बाद सत्वगुण को भी पारकर पूर्ण निर्विकल्प स्थिति प्राप्त करनी चाहिए। वही मोक्ष है ।

"महाबाहो" - हे अर्जुन ! तुम अपनी बाहुओं के पराक्रम से जिस प्रकार बाहरी शत्रुओं का अन्त करते हो, उसी प्रकार बन्धनों से बंध रहे इन त्रिगुण रूपी आन्तरिक शत्रुओं का भी अन्त कर आत्मसाम्राज्य प्राप्त करो।" यह सन्देश भगवान ने 'महाबाहो' शब्द के प्रयोग के द्वारा अर्जुन को दिया। "देहे देहिन मव्ययम्" - "देह में" कहने से स्पष्ट होता है कि आत्मा ही परमात्मा है। अविनाशी परंज्योती है। वह देह में ही रहता है। तीव्र प्रयत्न एवं शोधन के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

'अव्ययम्' कहने से स्पष्ट होता है कि देह आदि का नाश होता है, परन्तु आत्मा का नहीं होता। संसार के सभी पदार्थ नश्वर हैं। आत्मा ही शाश्वत है। अतः हर जीव को सोचना चाहिए कि वह किस स्थिति में है ? देह में है या देही में है ? यदि वह देह में ही है, तो उसे क्रमशः त्रिगुणों से रहित होकर देही परमात्मा तक पहुँचना चाहिए। वही जन्म की सार्थकता है।

प्रश्न - आत्मा कैसा है ?

उत्तर - अविनाशी है।

प्रश्न - वास्तव में अविनाशी आत्मा होकर भी अज्ञान के कारण जीव किससे बन्धित हो रहा है ?

उत्तर - सत्व, रज एवं तम नामक गुणों से जीव बन्धित हो रहा है।

प्रश्न - वे गुण किससे उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर - प्रकृति से उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न - जीव बन्ध रहित होना चाहे, तो मार्ग क्या है ?

उत्तर - त्रिगुणों को पारकर परमात्मा तक पहुँचना चाहिए।

सम्बन्ध - अब सत्त्वगुण का स्वरूप और उसके द्वारा जीवात्मा के बाँधे जाने का प्रकार बतलाते हैं -

६. *तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।*
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ।।

शब्दार्थ - अनघ = निष्पाप हे अर्जुन । तत्त = उस सत्त्व आदि गुणों में । सत्त्वम् = सत्त्वगुण । निर्मलत्वात् = स्वच्छ होने के कारण । प्रकाशकम् = प्रकाश करनेवाला । अनामयम् = विकाररहित । सुख सङ्गेन च = ज्ञान की आसक्ति से । बध्नाति बांधता है ।

भावार्थ - हे निष्पाप ! उन तीनों गुणों में सत्त्वगुण तो निर्मल होने के कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है, वह सुख के सम्बन्ध से और ज्ञान के सम्बन्ध से अर्थात् उसके अभिमान से बाँधता है ।.

व्याख्या - गुण तीनों प्रकृति (माया) से उत्पन्न हैं । सत्व गुण भी उन में से एक है । अतः वह उनसे परे नहीं है । फिर भी सत्वगुण शुद्ध एवं निर्मल है । बाकी दोनों से श्रेष्ठ है । तोभी पूर्ण आत्मस्थिति में सत्व गुण भी एक अवरोध ही है । दीप की बत्ती पर लाल रंग की चिमनी लगावें, तो रोशनी लाल होती है । सफेद रंग की लगावें, तो रोशनी सफेद होती है । काले रंग की लगावें, तो रोशनी काली होती है । यद्यपि दीप निर्मल एवं शुद्ध होता है, तथापि उसे ढकी चिमनी जिस रंग की होती है, दीप की रोशनी उसी रंग की दीखती है । इसी प्रकार सत्वगुण भी सुख एवं ज्ञान की आसक्ति के कारण आत्मा को बंधन में बांधता है । इसलिए भगवान उस सत्वगुण को भी पारकर केवल आत्मस्थिति प्राप्त करने का सन्देश अर्जुन को देते हैं ।

"अनघ" - पापरहित मनुष्य अनघ है । पाप रहित होना तथा निर्मल चित्त रहना ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए आवश्यक योग्यता है । 'अनघ' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि अर्जुनने वह योग्यता प्राप्त की ।

प्रश्न - सत्वगुण कैसा है ?

उत्तर - (१) निर्मल है । (२) प्रकाशवान है । (३) उपद्रवरहित है ।

प्रश्न - वह जीव को किस प्रकार बंधन में बांधता है ?

उत्तर - सुख एवं ज्ञान की आसक्ति के कारण बंधन में बांधता है।

प्रश्न - इसका फल क्या है ?

उत्तर - जीव को प्रयत्न करके सत्वगुण को भी पारकर केवल आत्मस्थिति प्राप्त करनी चांहिए। वही मोक्ष है।

७. रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन। रजः = रजोगुण। रागात्मकम् = दृश्य विषयों के प्रति राग उत्पन्न करनेवाला। तृष्णा सङ्ग समुद्भवम् = तृष्णा एवं आसक्ति उत्पन्न करनेवाला। विद्धि = जानो। तत् = वह रजोगुण। कर्मसङ्गेन = कर्मों के प्रति आसक्ति से। देहिनम् = आत्मा को। निबध्नाति = बांधता है।

भावार्थ - तथा हे अर्जुन! रागरूप रजोगुण को, कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ जान, जो वह इस जीवात्मा को कर्मोंकी और उनके फल की आसक्तिसे बाँधता है।

व्याख्या - जो चीज प्राप्त नहीं होती, उसीको प्राप्त करने की प्रबल इच्छा होती है। वही तृष्णा है। जो चीज प्राप्त होती है, उसके प्रति अभिमान होता है। वही संग है। तृष्णा एवं संग दोनों को उत्पन्न करनेवाला रजोगुण है। यह रजोगुण मनुष्य को विषयवासनाओं एवं विभिन्न आसक्तियों द्वारा बंधनों में बांध देता है। यहाँ ध्यान देने की एक बात है। जब रजोगुण एवं तमोगुण की बात आयी, तब भगवान ने 'निबध्नाति' कहा। जब सत्वगुण की बात आयी, तब 'बध्नाति' कहा। मतलब यह कि रजोगुण एवं तमोगुण जीव को सांसारिक बन्धनों में बांध देते हैं।

प्रश्न – रजोगुण कैसा है ?

उत्तर – (१) रजोगुण दृश्य पदार्थों के प्रति आसक्ति पैदा करता है। (२) तृष्णा एवं आसक्ति को पैदा करता है। बढाता है।

प्रश्न – वह किस प्रकार जीव को बांधता है ?

उत्तर – (१) विषयों की आसक्ति के द्वारा (२) कर्म के संबंध के द्वारा जीव को बांधता है।

प्रश्न – उसका फल क्या है ? जीव को क्या करना चाहिए ?

उत्तर – बंधनों में बांधनेवाले उस रजोगुण को हृदय से मिटा देना चाहिए।

८. तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥

शब्दार्थ – भारत = हे अर्जुन। तमः तु = तमोगुण रहे तो। अज्ञानम् = अज्ञान से उत्पन्न। सर्व देहिनाम् = सब देहाभिमानियों को। मोहनम् = मोहित करनेवाला। विद्धि = जानो। तत् = वह। प्रमादालस्य निद्राभिः = प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा। निबध्नाति = बांधता है।

भावार्थ – हे अर्जुन! सब देहाभिमानियों को मोहित करनेवाले तमोगुण को तो अज्ञान से उत्पन्न जान। वह इस जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बाँधता है।

व्याख्या – तमोगुण अज्ञान से पैदा होता है। वह जीव को मोहित कर, अविवेकी बनाकर उसे सांसारिक बन्धनों से बांध देता है। घने बादल जिस प्रकार सूर्य को ढंक देता है, काली चिमनी दीप की रोशनी को जिस प्रकार काली बना देती है, उसी प्रकार तमोगुण जीव को तमावृत बना देता है।

"सर्व देहिनाम" कहने से स्पष्ट होता है कि वह विवेकवान तथा आत्मज्ञानियों को छोड बाकी सब को तमोगुण अपने वश में कर लेता है।

मुमुक्षुओं के तीव्र प्रयास के बाद वह उन्हें छोडता है। अब प्रश्न उठता है कि तमोगुणी की पहचान क्या है ? मस्ती, आलस्य, अधिक निद्रा, असावधानी और अस्थिरता जिस में हों, वह तमोगुणी है। उन्हें पहचान कर उन्हें हृदय से दूर कर लेना चाहिए। क्योंकि ये तमोगुण एवं रजोगुण जीव को मजबूत जाल में बांधकर उसे भगवान से दूर कर देते हैं। अतः मुमुक्षुओं को सचेत रहना चाहिए।

"भारत" - इस अध्याय में भारत शब्द का प्रयोग अर्जुन के लिए कई बार किया गया। जैसे -

(१) संभवः सर्वभूतानां ततो भावर्त भारत (१४-३)

(२) प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत (१४-८)

(३) सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत (१४-९)

(४) रजस्तमश्चाभिभूयसत्वं भवति भारत (१४-१०)

(५) रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ (१४-१२)

इस प्रकार एक अध्याय में 'भारत' शब्द का कई बार जो प्रयोग हुआ, उसका कोई विशेष कारण रहा होगा। वह यह कि 'भा' का अर्थ हैं 'प्रकाश' (ज्ञान)। उसमें 'रतः' आसक्त। इस शब्द के द्वारा अर्जुन को सूचित किया जाता है कि हे अर्जुन ! त्रिगुणों के मालिन्य से रहित और अतिनिर्मल अपने उज्वल स्वस्वरूप को याद करो। तुम तमोमय इन त्रिगुणों के वशवर्ती नही हो। वे प्रकृति (माया) जन्य हैं। तुम ज्ञान के पुञ्ज हो। सच्चिदानन्द स्वरूप हो। इसलिए उस उज्वल निज आत्मतत्व में स्थित होकर त्रिगुणातीत बनो।" संभव है कि यही सन्देश देने के लिए भगवानने भारत शब्द का कई बार प्रयोग किया।

प्रश्न – तमोगुण किससे उत्पन्न हुआ ?

उत्तर – अज्ञान से उत्पन्न हुआ।

प्रश्न – उसका स्वभाव क्या है ?

उत्तर – वह समस्त जीवों को मोह में डाल देता है।

प्रश्न – वह किस रूप में जीवों को बांधता है ?

उत्तर – विस्मृति, असावधानी, आलस्य, अधिक निद्रा एवं मस्ती आदि के रूप में जीवों को बांध देता है।

सम्बन्ध – इस प्रकार सत्त्व, रज और तम-इन तीनों गुणों के स्वरूप का और उनके द्वारा जीवात्मा के बाँधे जाने का प्रकार बतलाकर अब उन तीन गुणों का स्वाभाविक व्यापार बतलाते हैं –

९. सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥

शब्दार्थ – भारत = हे अर्जुन। सत्वं = सत्वगुण। सुखे = सुख में। संजयति = लगाता है। रजः = रजोगुण। कर्मणि = कर्म में। तमः तु = तमोगुण तो। ज्ञानम् = ज्ञान को। आवृत्य = ढककर। प्रमादे = प्रमाद में। संजयति = लगाता है। उत = आश्चर्य।

व्याख्या – अब तक जो बताया गया, वही विषय फिर से बताया जा रहा है। सत्वगुण जीव को सांसारिक सुख में, रजोगुण जीव को सांसारिक कर्म में तथा तमोगुण जीव को निद्रा एवं मत्तता आदि में बांध देते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा था कि जीव को सत्वगुण आवृत करे, तो दीप शीशे की चिमनी से ढका सा रहता है।

जीव को रजोगुण आवृत करे, तो दीप, छेदोंवाली टोकरी से ढका सा रहता है। जीव को तमोगुण आवृत करे, तो दीप मिट्टी के घडे से ढका सा लगता है। अतः ये तीनों गुण ज्ञान दीप व आत्मदीप को किसी न किसी तरह ढकते हैं। उन तीनों को पारकर आत्म स्थिति तक जीव को पहुँचना चाहिए। "उत" (आश्चर्य) शब्द के प्रयेग से ज्ञात होता है कि इन त्रिगुणों के व्यवहार एवं नित्यनिर्मल मनुष्य का उनके वशवर्ती होने पर भगवान आश्चर्य प्रकट करते हैं।

सम्बन्ध - सत्त्व आदि तीनों गुण जिस समय अपने अपने कार्यमें जीव को नियुक्त करते हैं, उस समय वे ऐसा करने में किस प्रकार समर्थ होते हैं - यह बात अगले श्लोक में बतलाते हैं -

१०. रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥

शब्दार्थ - भारत = हे अर्जुन। सत्वम् = सत्वगुण। रजः = रजोगुण। तमः च = तमोगुण। अभिभूय = दबाकर। भवति = बढता है। रजः = रजोगुण। सत्वम् = सत्वगुण को। तमः च = तमोगुण को। तथा = वैसे ही। तमः = तमोगुण। सत्वम् = सत्व गुण को। रजः च एव = रजो गुण को।

भावार्थ - हे अर्जुन! रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण को दबा कर रजोगुण, वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण होता अर्थात् बढ़ता है।

व्याख्या - इन तीनों गुणों में से जो गुण जीव में अधिक होता है, वह बाकी गुणों को दबाकर रखता है। इसलिए साधकों को चाहिए कि वे सत्व गुण का ही अभ्यास करें, उसके प्रभाव से रजोगुण एवं तमोगुण को नष्ट कर दें, फिर उस सत्वगुण को भी पारकर आगे बढें। निर्गुण परमात्मा की स्थिति में पहुँचें।

११. सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥

शब्दार्थ - यदा = जब। अस्मिन् देहे = इस शरीर में। सर्वद्वारेषु = इन्द्रिय रूपी सब द्वारों में। प्रकाशः = प्रकाश रूप। ज्ञानम् = ज्ञान। उपजायते = उत्पन्न होता है। तदा = तब। (सत्त्वगुणम्) विवृद्धम् = बढता है। विद्यात् = जानना चाहिए।

भावार्थ - जिस समय इस देह में तथा अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है।

व्याख्या - मनुष्य में जिस गुण की प्रधानता होती है, वह उस गुण के अनुकूल कर्म करता है। उसका भोजन, रहन सहन, बात करने का ढंग सब उस गुण के अनुसार होते हैं। सत्वगुण प्रधान रहे, तो उसके कर्म सात्विक, उज्वल एवं ज्ञानमय होते हैं। जब एक फल अच्छी तरह पक जाता है, तब उसे कहीं भी रखें, वह मीठा ही रहता है। सत्वगुणवाला प्रशान्तचित्त रहता है। सात्विक आहार खाता है। उत्तमग्रन्थ पढता है। उत्तम विचार ही दिमाग में लाता है। यही सत्य इस श्लोक में बताया गया है। ऐसी शान्तिप्रियता एवं ज्ञान का प्रकाश व्यक्ति के बर्ताव में प्रकट होते हैं, तो वह सात्विक व्यक्ति कहला सकता है। इससे व्यक्ति की साधना सम्बन्धी तीव्रता का परिचय मिलता है। भगवान श्रीकृष्ण ने इस श्लोक और अगले दो श्लोकों के द्वारा जीव के चरित्र की शुद्धता एवं उसके स्तर की पहचान के लिए मापदण्ड प्रस्तुत किया है। उन उनका आचरण ही वह मापदण्ड है। अतः हर साधक को अपने गुणों एवं बर्ताव में परिवर्तन लाना चाहिए। साधना के बल पर तम से रज, रज से सत्व और सत्व से गुणातीत की स्थिति में पहुँचना चाहिए। सत्वगुणों के लिए विभीषण का नाम दृष्टांत के रूप में लिया जा सकता है।

प्रश्न - सत्त्वगुण अधिक रहे, तो जीव कैसे रहता है ?

उत्तर - उसकी समस्त इन्द्रियों से उस समय उज्वल ज्ञान एवं सात्विक गुण प्रकट होते हैं। उस स्थिति में समझना चाहिए कि उस जीव में सत्त्वगुण अधिक हैं।

१२. लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥

शब्दार्थ - भरतर्षभ = भरतकुलश्रेष्ठ, हे अर्जुन। रजसि = रजोगुण। विवृद्धे= बढने पर। लोभः = लोभ। प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति। कर्मणाम् = कर्मों का। आरम्भः = आरम्भ। अशमः = अशान्ति। स्पृहा = आशा। एतानि = ये लक्षण। जायन्ते = उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ - हे अर्जुन ! रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धि से कर्मों का सकामभाव से आरम्भ, अशान्ति और विषयभोगों की लालसा - ये सब उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या - जब मनुष्य में रजोगुण अधिक होता है, तब वह कुछ न कुछ कर्म करता है। अनावश्यक विषय अपने ऊपर लेता है। फलस्वरूप सदा अशांत रहता है। सदा प्रवृत्ति में लगा रहता है, निवृत्ति में नहीं। उसका आहार भी राजस रहता है। बर्ताव तथा बात करने का ढंग भी राजस ही रहता है। उसके मन में अनेक विषयों का संचार होता रहता है। इन्द्रिय निग्रह नहीं होता। आम जब नहीं पकता, तब वह खट्टा रहता है। रजोगुणी की तुलना खट्टे आम से की जा सकती है। रजोगुण का दृष्टांत रावणासुर है। इस श्लोक में बताया गया कि रजोगुणी अशांत रहता है। शांति तभी होती है, जब जीव के हृदय से रजोगुण मिट जाता है।

प्रश्न - जब रजोगुण अधिक होता है, तब जीव कैसे रहता है ?

उत्तर - (१) लोभ (२) कार्यों में प्रवृत्ति (३) निषिद्ध कार्यों का आरंभ (४) मन में शांति का अभाव (५) विषय वासनाओं की आशा - ये रजोगुणी के लक्षण हैं। जिस जीव में रजोगुण अधिक होता है, उसमें उपर्युक्त लक्षण दृग्गोचर होते हैं।

प्रश्न - शांति किनको प्राप्त होती है ?

उत्तर - जिनके हृदय से रजोगुण तथा तमोगुण मिट जाते हैं, उनको शांति प्राप्ति होती है।

सम्बन्ध - इस प्रकार बढ़े हुए रजोगुण के लक्षणों का वर्णन करके अब तमोगुण की वृद्धि के लक्षण बतलाये जाते हैं -

१३. अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥

शब्दार्थ - कुर नन्दन = कुरुवंशी हे अर्जुन। तमसि = तमोगुण। विवृद्धे = बढने पर। अप्रकाशः = अविवेक। अप्रवृत्तिः च = आलस्य। प्रमादः = प्रमाद। मोहः एव च = अज्ञान। एतानि = ये। जायन्ते = उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ - हे अर्जुन ! तमोगुणके बढ़ने पर अन्तःकरण और इन्द्रियों में अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरण की मोहिनी वृत्तियाँ- ये सब उत्पन्न होते हैं।

व्याख्या - जब मनुष्य में तमोगुण अधिक होता है, तब अधिक निद्रा, आलस्य, मत्तता, कर्मों में अप्रवृत्ति एवं असावधानी के लक्षण दीखते हैं। उसके बर्ताव एवं बात करने के ढंग में तमोगुण प्रकट होता है। कसैले आम की तुलना तमोगुण से की जा सकती है। कुंभकर्ण तमोगुणी का दृष्टांत है।

हर साधक को चाहिए कि वह भलीभांति जांच ले कि उसमें किस गुण के लक्षण ज्यादा हैं। उस गुण को दूरकर उसे ऊर्ध्व की ओर जाने का प्रयत्न करना चाहिए। वृक्ष की जड में पानी दें तो आम का कसैलापान धीरे-धीरे खट्टेपन में बदलेगा। अंत में आम पकेगा और नीचे गिर जाएगा। मोक्ष की यही स्थिति है। भगवान का ध्यान एवं निरन्तर परमार्थ की साधना से जीव क्रमशः रज एवं तम से सत्व की ओर बढेगा। फिर गुणातीत पद पर पहुंचेगा।

प्रश्न - तमोगुण का आधिक्य हो तो जीव का कैसा हाल होगा ?

उत्तर - (१) अविवेक (२) आलस्य (३) असावधानी (४) अज्ञान आदि लक्षण तमोगुणी में अधिक होंगे। ये गुण जिसमें ज्यादा होंगे, समझना चाहिए कि वह तमोगुणी है।

१४. यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥

शब्दार्थ - यदातु = जब। सत्वे = सत्वगुण। प्रवृद्धे = वृद्धि पाता हुआ। देहभृत् = जीव। प्रलयम् = मरण। याति = पाता है। तदा = तब। उत्तम विदाम् = उत्तम ज्ञानियों के। अमलान् = अमलिन। लोकान् = लोकों को। प्रतिपद्यते = पाता है।

भावार्थ - जब यह मनुष्य सत्त्वगुण की वृद्धिमें मृत्यु को प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालों के निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि मरण के समय चित्त में जिस गुण का आधिक्य होता है, उसीसे सम्बन्धित लोक को जीव प्राप्त होता है। अन्तिम समय में सत्वगुण की प्रधानता हो, तो जीव उत्तम ज्ञानवानों का लोक प्राप्त करता है। परन्तु सत्वगुण एक क्षण में प्राप्त नहीं होता। चित्त में रजोगुण एवं तमोगुण की जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, साधना के द्वारा उन्हें दूर करना आवश्यक

है। जीवनपर्यन्त सत्कर्म करते रहने से ही अन्त्यकाल में चित्त सत्त्वगुण प्रधान रहता है। अन्त्य समय की चित्तवृत्ति के अनुसार ही जीव को पुनर्जन्म आदि प्राप्त होते हैं। इसलिए जीव को सत्वगुण की प्राप्ति करके, फिर विशुद्ध सत्वगुण की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए। जीवन भर पाप कर्म ही जीव करता रहे, तो अन्त्यकाल में चित्त तमोगुण से भरा रहेगा। फलस्वरूप जीव नीच लोक ही जाएगा। यह बात अगले श्लोक में भगवान बतलाते हैं।

"देहभृत" - (देह धारण करनेवाला) - इससे स्पष्ट होता है कि जीव वास्तव में देह से भिन्न है। जो धारण किया जाता है, वह धारण करनेवाले से भिन्न ही होता है। "मुकुट धारण किया या वस्त्र धारण किया" इन वाक्यों में मुकुट एवं वस्त्र और उन्हें धारण करनेवालों से अलग ही होते है। इसी तरह देह एवं जीव अलग ही होते हैं। इस सत्य को जानकर जीव को चाहिए कि वह देह की भावना त्याग दे और देह के साक्षी के रूप में स्थित आत्मभाव को ही अपनावे।

"उत्तम विदां अमलाम्" - इससे स्पष्ट होता है कि सत्वगुणी, ज्ञानियों के निर्मल लोक ही प्राप्त करेंगे।

प्रश्न – सत्वगुणी अन्त में कौन-सा लोक पाएंगे ?

उत्तर – उत्तम ज्ञानियों के परिशुद्ध लोक ही सत्वगुणी पाएंगे।

१५. रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥

शब्दार्थ – रजसि = रजोगुण। प्रलयम् = मरण। गत्वा = पाकर। कर्मसङ्गिषु = कर्मासक्तों में। जायते = पैदा होता है। तथा = वैसे ही। तमसि = तमोगुण। प्रलीनः = मरा हुआ। मूढयोनिषु = मूढ योनियों में। जायते = पैदा होता है।

भावार्थ – रजोगुण के बढ़नेपर, अर्थात् जिस काल में रजोगुण बढ़ता है उस काल में मृत्यु को प्राप्त होकर कर्मों की आसक्तिवाले मनुष्यों में उत्पन्न होता

है तथा तमोगुण के बढ़नेपर मरा हुआ पुरुष कीट, पशु आदि मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है।

व्याख्या - रजोगुणी मरते हैं, तो अपने संस्कारों के अनुसार फिर कर्म के प्रति आसक्त रहनेवालों के घर में पैदा होते हैं। नानाकर्म करके फिर नाना जन्म पाते हैं। भवबन्धनों से मुक्त नहीं होते। हमेशा दुःख भोगते रहते हैं। आशांत रहते हैं। तमोगुणी मरते हैं, तो हीन एवं नीच व्यक्तियों के घरों में पैदा होते हैं। या पशु वा पक्षियों की योनियों से पैदा होते हैं। उनके दुःखों तथा उनकी यातनाओं की सीमा नहीं होती। इसलिए ऐसे भयानक जन्मों तथा दुःखों से मुक्त होने के लिए इस जन्म में अनेक सत्कर्म करते हुए, रजोगुण तथा तमोगुण रूपी पिशाचों को हृदय से निकालकर भक्ति, वैराग्य तथा आत्मज्ञान से अपने हृदय को भर लेना चाहिए। फिर मुक्त होकर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहिए।

प्रश्न - रजोगुणी कहाँ पैदा होता है ?

उत्तर - कर्म के प्रति आसक्त जनों के बीच पैदा होता है।

प्रश्न - तमोगुणी कहाँ पैदा होता है ?

उत्तर - पामरों (मूढ) या पशु पक्षि आदि की योनियों से पैदा होता है।

सम्बन्ध - सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंकी वृद्धि में मरने के भिन्न-भिन्न फल बतलाये गये, इससे यह जानने की इच्छा होती है कि इस प्रकार कभी किसी गुण की और कभी किसी गुण की वृद्धि क्यों होती है ? इसपर कहते हैं-

१६. कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥

शब्दार्थ - सुकृतस्य कर्मणः = श्रेष्ठ कर्म का। सात्विकम् = सत्त्वगुण सम्बन्धी। निर्मलम् = परिशुद्ध सुख। फलम् = फल। रजसस्तु = रजोगुण सम्बन्धी कर्म का। दुःखम् = दुःख। फलम् = फल। तमसः = तमोगुण सम्बन्धी कर्म का। अज्ञानम् = अज्ञान। फलम् = फल। आहुः = कहते हैं।

भावार्थ - श्रेष्ठ कर्म का तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है। राजस कर्म का फल दुःख एवं तामस कर्म का फल अज्ञान कहा है।

व्याख्या - हर प्राणी सुख चाहता है। दुःख नहीं चाहता। परन्तु जिन कार्मों से सुख प्राप्त होगा, उन्हीं कर्मों को उसे करना चाहिए। दुःख देनेवाले कर्म नहीं करना चाहिए। निर्मल सुख किससे मिलेगा ? सात्विक कर्म से मिलेगा। दुःख तथा अज्ञान किससे मिलेगा ? राजसिक एवं तामसिक कर्मों से मिलेगा। यही भगवान का कथन है। इसलिए विज्ञ पुरुषों को सात्विक कर्म ही करना चाहिए। राजसिक एवं तामसिक कर्म नहीं करना चाहिए। जो जानता है कि आग में रखने से हाथ जल जाता है, तो फिर वह आग में हाथ क्यों डालेगा ? इसलिए भगवान के कथन पर विश्वास करके जीव को रज एवं तम सम्बन्धी कार्य न करके सात्विक कर्म ही करना चाहिए। फिर आत्मस्थिति में पहुंचकर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहिए।

"रजसस्तु फलं दुःखं" - चूंकि रजोगुण रूपी तृष्णा, काम तथा क्रोध आदि का फल दुःख बताया गया, अतः साधकों एवं मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे उनके बारे में सचेत रहें, उन्हें त्याग दें। दुःखों से मुक्त होने तथा सुख पाने के लिए इससे बढिया दूसरा कोई उपाय नहीं है।

"अज्ञानं तमसः फलम्" - सभी दुर्गुण अज्ञान के अंतर्गत रहते हैं। दुःख भी उसीके अंतर्गत हैं। अतः वह खतरनाक है। उसे पास नहीं आने देना चाहिए।

प्रश्न – सात्विक कर्म का फल क्या है ?

उत्तर – निर्मल सुख सात्विक कर्म का फल है।

प्रश्न – राजस कर्म का फल क्या है ?

उत्तर – दुःख ही राजस कर्म का फल है।

प्रश्न – तामस कर्म का फल क्या है ?

उत्तर – अज्ञान ही तामस कर्म का फल है।

प्रश्न – अतः दुःख दूर करने तथा सुख प्राप्त करने का उपाय क्या है ?

उत्तर – राजसिक, तामसिक कार्य त्यागकर सात्त्विक कार्यों का आश्रय लेना ही एक मात्र उपाय है।

१७. सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥

शब्दार्थ – सत्वात् = सत्व गुण से। ज्ञानम् = ज्ञान। संजायते = उत्पन्न होता है। रजसः = रजो गुण से। लोभः एव = लोभ ही। तमसः = तमोगुण से। प्रमाद मोहो = प्रमाद एवं मोह। भवतः = होते हैं। च = और। अज्ञानम् एव = अज्ञान ही।

भावार्थ – सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से निस्सन्देह लोभ तथा तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है।

व्याख्या – तत्व अच्छी तरह समझाने के लिए, गुरु की भांति भगवान श्रीकृष्ण शिष्य अर्जुन को बार-बार वही बात समझाते हैं। लोभ तथा अज्ञान आदि दुःख के मूलकारण हैं। इसलिए वे वर्जित हैं। अतः वे जिन रजो गुण एवं तमोगुण से उत्पन्न होते हैं, उन्हें दिल से दूर कर लेना चाहिए। सत्वगुण का आश्रय विज्ञ पुरुष को लेना चाहिए।

प्रश्न - सत्त्वगुण से क्या मिलता है ?

उत्तर - ज्ञान मिलता है।

प्रश्न - रजोगुण से क्या मिलता है ?

उत्तर - लोभ मिलता है।

प्रश्न - तमोगुण से क्या मिलता है ?

उत्तर - असावधानी, भ्रम तथा अज्ञान मिलते हैं।

सम्बन्ध - सत्त्वादि तीनों गुणोंके कार्य ज्ञान आदि का वर्णन करके अब सत्त्वगुण में स्थित कराने और रज तथा तमोगुण का त्याग करानेके लिये तीनों गुणों में स्थित पुरुषों की भिन्न-भिन्न गतियों का प्रतिपादन करते हैं।

१८. ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

शब्दार्थ - सत्वस्थाः = सत्वगुण में स्थित पुरुष। ऊर्ध्वम् = ऊर्ध्व लोक। गच्छन्ति = जाते हैं। राजसाः = रजोगुणवाले। मध्ये = मध्य में मनुष्य लोक में। तिष्ठन्ति = रहते हैं। जघन्यगुण वृत्तिस्थाः = नीच प्रवृत्तिवाले। तामसः = तमोगुण वाले। अधः = अधो लोक में। गच्छन्ति = जाते हैं।

भावार्थ - सत्त्वगुण में स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों को जाते हैं, रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्य में अर्थात् मनुष्यलोक में ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादि में स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियों को तथा नरकों को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या - स्पष्ट बताया गया कि सत्वगुणवाले ऊर्ध्वलोक में जाते हैं। रजो गुणवाले मध्यलोक में तथा तमोगुणवाले आधोलोक में जाते हैं। अतः रज एवं तम दोनों वर्जित हैं। ये लोक वास्तव में लोगों के ही वश में होते हैं। अतः जीवों को चाहिए कि वे सत्वगुणी होकर ऊर्ध्वलोक पहुँचने का प्रयत्न करें।

प्रश्न - सत्वगुणवाले मृत्यु के बाद किस लोक में जाते हैं ?

उत्तर - ऊर्ध्वलोक में जाते हैं।

प्रश्न - रजोगुणवाले किस लोक में जाते हैं ?

उत्तर - मध्यलोक में जाते हैं।

प्रश्न - तमोगुणवाले किस लोक में जाते हैं ?

उत्तर - अधोलोक में जाते हैं।

सम्बन्ध - तेरहवें अध्याय के इक्कीसवें श्लोक में जो यह बात कही थी कि गुणों का सङ्ग ही इस मनुष्य के अच्छी-बुरी योनियोंकी प्राप्तिरूप पुनर्जन्मका कारण है, उसीके अनुसार इस अध्याय में पाँचवें से अठारहवें श्लोक तक गुणों के स्वरूप तथा गुणों के कार्यद्वारा बँधे हुए मनुष्यों की गति आदि का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया। इस वर्णन से यह बात समझायी गयी कि मनुष्य को पहले तम और रजोगुण का त्याग करके सत्त्वगुण में अपनी स्थिति करनी चाहिये और उसके बाद सत्त्वगुण भी त्याग करके गुणातीत हो जाना चाहिये। अतएव गुणातीत होने के उपाय और गुणातीत अवस्था का फल अगले दो श्लोकों द्वारा बतलाया जाता है -

१९. नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

शब्दार्थ - यदा = जब। द्रष्टा = द्रष्टा बन कर। गुणेभ्यः = गुणों से। अन्यम् = अन्य। कर्तारम् = कर्ता को। न अनुपश्यति = नहीं देखता। गुणेभ्यः च = गुणों से। परम् = अन्य के रूप में। वेत्ति = जानते है। सः = वह। मद्भावम् = मेरा स्वरूप। अधिगच्छति = पाते हैं।

भावार्थ - जिस समय द्रष्टा तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणों से अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघन स्वरूप मुझ परमात्मा को तत्त्व से जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।

व्याख्या - यह श्लोक तथा अगला श्लोक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जीव जो कर्म करता है, उसके कर्ता त्रिगुण ही हैं। मन ही बंधन में बंधता है। मोक्ष भी वही पाता है। कर्ता तथा भोक्त, दोनों वही है। आत्मा साक्षी के रूप में व्यवहार करता है। यहाँ बताया गया कि जब जीव यह समझता है कि वास्तव में वह गुणों से अलग है, गुणों तथा देहेन्द्रियों का साक्षी रूप वह स्वयं है, अतः उन कर्मों का वह कर्ता नहीं है, तब वह द्रष्टा बन जाएगा। दृग्रूप बनकर परमात्मा का रूप प्राप्त करेगा। इसीलिए भगवान पहले - "द्रष्टा" बनने का आदेश देते हैं। कहते हैं कि - हे जीव ! तुम दृश्यरूप त्रिगुणों, मन, देहेन्द्रियों के साथ एक मत बनो, उनका साक्षी रूप द्रष्टा बनो।

इस जगन्नटक में मन एवं त्रिगुण ही कर्ता हैं। जीव इस नाटक में दीप की तरह सभी क्रियाओं का साक्षी बना हुआ है। सिनेमा का आधार जैसे सफेद पर्दा है, उसी तरह परमात्मा सब का आधार बनकर, सुख और दुःख के परे रहकर विलसित है। यही परम सत्य है। संसार के समस्त दुःखों का मूल कारण गुणों के साथ जीव का तादात्म्य ही है। अर्थात् जीव गुणों, मन तथा देह से एक होकर सोचता है कि मैं करता हूँ, मैं पैदा होता हूँ, मैं मरता हूँ। बन्धनों का मूल कारण कर्तृत्व की यह भावना ही है। उसे त्यागते ही जीव भगवत्स्वरूप पाता है।

"मद्भावं सोऽधिगच्छति" - इससे स्पष्ट होता है कि जो जीव यह जानता है कि क्रियाओं के कर्ता गुण हैं, वह वास्तव में उन गुणों से अलग है, तो वह किसी भी तरह के भेदभाव के बिना भगवत्स्वरूप पाता है। अतः जीव शिव बनने, नर के नारायण बनने तथा जन के जनार्दन बनने का यही

मार्ग है। इसलिए हर जीव को मन की दुर्बलता व निराशा त्यागकर समझना चाहिए कि मैं निरंजन हूँ, गुणातीत हूँ, भगवत्स्वरूप हूँ। फिर विवेकी बनकर धैर्य से भगवान के सायुज्य का यत्न करना चाहिए।

"अधिगच्छति" - इससे स्पष्ट होता है कि वह साधक ब्रह्म के साथ मिलकर एक रूप हो सकता है। 'पश्यति' न कहकर "अनुपश्यति" कहा गया। इससे जीव को समझ लेना चाहिए कि वह कर्ता नहीं है।

भगवान के बताये इन सत्यों को बडी सावधानी से समझ लेना चाहिए। क्योंकि कुछ मूढ लोग भगवान् के इस वाक्य का कि इन्द्रियाँ कुछ भी करें, कुछ भी भोगें, उनके साथ मेरा कोई संबंध नहीं, विपरीत अर्थ ग्रहण कर इन्द्रियों के द्वारा निषिद्ध कर्म करने पर उतारू हो जाते हैं। फिर दुःख के अथाह सागर में गिर जाते हैं। ऐसे शुष्क वेदांतियों की बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि जो साधक तमोगुण एवं रजोगुण पार कर, अपने को उनसे भिन्न समझता है, वह फिर से उन गुणों से सम्बन्धित नीच कार्य कभी नहीं करेगा।

प्रश्न - समस्त कार्यों का कर्ता कौन है ?

उत्तर - त्रिगुण ही कर्ता हैं।

प्रश्न - मनुष्य वास्तव में कैसा है ?

उत्तर - मनुष्य अकर्ता है, सद्गुणी है। सर्वसाक्षी है।

प्रश्न - यह सत्य जानने से कौन सा फल मिलेगा ?

उत्तर - जब जीव यह जान लेगा कि वह गुणातीत है, अकर्ता है, तब वह भगवत्स्वरूप पाता है। मुक्ति पाता है।

प्रश्न - इससे भगवान से मिलकर एक होने तथा मोक्ष पाने का कौन-सा उपाय सिद्ध होता है ?

उत्तर - जीव को जान लेना चाहिए कि त्रिगुण ही कर्ता है, स्वयं अकर्ता है, गुणातीत है, तो मोक्ष पाता है। यही बढिया उपाय है।

२०. गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥

शब्दार्थ - देही = जीव। देह समुद्भवान् = शरीर की उत्पत्ति के कारणरूप। एताम् = इन। त्रीनगुणान् = तीन गुणों को। अतीत्य = पार कर। जन्म मृत्यु जरा दुःखैः = जन्म, मृत्यु, बुढापा दुःख से। विमुक्तः = मुक्त होकर। अमृतम् = मोक्ष। अश्नुते = पाता है।

भावार्थ - यह पुरुष शरीर की उत्पत्ति के कारणरूप इन तीनों गुणों का उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुःखों से मुक्त होकर परमानन्दको प्राप्त होता है।

व्याख्या - "गुणान्" कहने से स्पष्ट है कि रज एवं तमोगुण के साथ सत्वगुण भी पारकर निर्गुण परमात्मा तक पहुँचना चाहिए। पहले रज एवं तमोगुण को भोगकर सत्वगुण अपनाने का अभ्यास करना चाहिए। निस्संकल्प स्थिति में सत्वगुण स्वयं ही पिछड जाएगा।

इस श्लोक में बताया गया कि गुणों से होनेवाला अपकार क्या है, उनके दूर होने से होनेवाला उपकार क्या है ? "देह समुद्भवान" देहों का सृजन करना ही उससे होनेवाला भयानक अपकार है। इससे जीव जनन मरण रूपी सांसारिक झमेले से छूट नहीं सकता। एक शरीर नष्ट होता है, तो दूसरा शरीर जन्म लेता है। अब तक करोडों जन्म, करोडों शरीर उस त्रिगुणरूपी बीज से ही उद्भूत हुए हैं। मूल नष्ट नहीं होवे, तो और भी करोडों जन्म हो सकते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि अनेक जन्म हों, तो नुकासान क्या है ? उस नुकसान के बारे में भगवानने इस श्लोक में बता दिया। बुढापा, रोग, मरण तथा दुःख आदि सब विपत्तियां शरीर के कारण ही जीव को होती हैं। अतः शरीर रहित होना ही श्रेष्ठ कार्य है। यहाँ बताया गया कि गुणातीत होने पर ही जन्म राहित्य प्राप्त होगा। इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह तमोगुण एवं रजोगुण को नष्ट कर सत्वगुण को अपनावे, फिर उसे भी पार कर शाश्वत कैवल्य पद प्राप्त करे। वह मृत्युरहित स्थिति है, इसीलिए भगवान ने उसे अमृत कहा है।

"मुक्तः" न कह कर 'विमुक्तः' कहने से स्पष्ट है कि त्रिगुणों को पार करनेवाले जनन मरण के बन्धन से मुक्त होते हैं।

प्रश्न – इस शरीर का सृजन किससे होता है ?

उत्तर – त्रिगुणों से होता है।

प्रश्न – मरणरहित कैवल्य (मोक्ष) पद कैसे प्राप्त हो सकता है ?

उत्तर – इन तीन गुणों को पार करने से प्राप्त होता है।

प्रश्न – देह (जन्म) मिले तो नुकसान क्या है ?

उत्तर – बुढापा, रोग, मृत्यु, वियोग तथा दुःख आदि सभी नुकसान इस देह के कारण ही होते हैं। इसलिए शरीर महान् अनर्थ का मूल कारण है। अतः जीव को देह रहित आत्मस्थिति पानी चाहिए।

प्रश्न – मोक्ष की स्थिति कैसी है ?

उत्तर – वह जनन मरण रहित स्थिति (अमृत) है।

अर्जुन उवाच

२१. कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुनने पूछा। प्रभो = प्रभु हे कृष्ण। एतान् = इन। त्रीन् गुणान् = तीन गुणों के। अतीतः = अतीत पुरुष। कैः लिङ्गैः = किन लक्षणों से। भवति = युक्त होता है। किमाचारः (भवति) = किस प्रकार के आचरणवाला। (होता है ?)। एतान् त्रीन गुणान् = इन तीन गुणों से। कथं च = किस तरह। अतिवर्तते = अतीत होताा है।

भावार्थ - अर्जुन बोले - इन तीनों गुणों से अतीत पुरुष किन-किन लक्षणों से युक्त होता है और प्रकार के आचरणोंवाला हौता है; तथा हे प्रभो ! मनुष्य किस उपाय से इन तीनों गुणों से अतीत होता है।

व्याख्या - गुणातीत के अमृतत्व की बात सुनकर अर्जुन को सन्देह हुआ कि वे गुण कैसे पार किये जाते हैं ? उस तरह पार करनेवाला कैसा व्यावहार करता है ? किन लक्षणों तथा पहचान से युक्त होता है ? उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण से ये प्रश्न पूछे।

"कैर्लिङ्गैः" - किन लक्षणों, किन पहचानों से गुणातीत पुरुष समझा जाता है ?" अर्जुन का यह प्रश्न समुचित है। क्योंकि संसार में ऐसे कई लोग दिखायी देते हैं, जिनकी विषय वासनाएँ पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होती। परन्तु वे कहते फिरते हैं कि हम गुणातीत हैं, हम सिद्धपुरुष हैं, हम जीवन्मुक्त हैं।" गुणातीत के लक्षण मालूम हो जायँ, तो लोग ऐसे दम्भियों के बारे में सावधान रहेंगे। फिर साधक खुद भी गुणातीत बनने का प्रयास करेंगे। यह सब सोचकर ही अर्जुन ने समयोचित प्रश्न पूछा। इसके पहले गीता के दूसरे अध्याय में अर्जुनने पूछा था कि स्थितप्रज्ञस्य का भाषा !" स्थितप्रज्ञ के लक्षण, गुणातीत के लक्षण, अद्वेष्टुत्वादि भक्त के लक्षण तथा अमानित्वादि ज्ञान गुण 'बैरामीटर' (Barometer) जैसे हैं। बैरामीटर से जिस प्रकार आबोहवा का पता लगाया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का भी पता इन लक्षणों के द्वारा लगाया जासकता है। इन लक्षणों की

कसौटी पर कसकर देखें, तो पता लग जाएगा कि संसार में सच्चे गुणातीत कौन हैं ? ढोंगी कौन हैं ? शुष्क वेदांत को नष्ट करने, पारमार्थिक क्षेत्र में ढोंगियों द्वारा प्रचारित मिथ्याडंबरों तथा कृत्रिम वातावरण को छिन्न भिन्न करने के लिए ऐसे प्रश्न अत्यंत आवश्यक हैं।

"किमाचारः" - गुणातीत के आचरण एवं अनुष्ठान के बारे में अर्जुनने जानना चाहा। इसके पहले भी "किमासीतव्रजेतकिम्" कहकर अर्जुन ने प्रश्न किया था। आध्यात्मिक क्षेत्र में अनुष्ठान को बडा महत्व दिया गया है। साध्य वस्तु एवं लक्ष्य के बारे में जानना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक उस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन के बारे में जानना भी है। क्योंकि साधन ठीक रहे, तो साध्य अपने आप सिद्ध होता है। इसीलिए अर्जुनने गुणातीत के लक्षण जानना चाहा। अर्जुन का यह प्रश्न एवं भगवान का उत्तर साधकों के लिए काफी महत्वपूर्ण हैं। साधन सम्बन्धी गीता की प्रमुख घटनाओं में से यह भी एक है। अतः मुमुक्षुओं को गुणातीत के लक्षण जानकर उन्हें कार्यान्वित करने का अनवरत प्रयास करना चाहिए।

प्रश्न - अर्जुन ने भगवान से किन किन विषयों के बारे में जानना चाहा ?

उत्तर - (१) गुणातीत के लक्षण। (२) उसका बर्ताव। इन विषयों के बारे में अर्जुन ने जानना चाहा।

सम्बन्ध - इस प्रकार अर्जुनके पूछने पर भगवान् उनके प्रश्नों में से 'लक्षण' और 'आचरण' विषयक दो प्रश्नोंका उत्तर चार श्लोकोंद्वारा देते हैं -

श्रीभगवानुवाच

२२. *प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।*
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

२३. *उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।*
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥

२४. *समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।*
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

२५. *मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।*
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

शब्दार्थ – श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले । पाण्डव = हे अर्जुन । यः= जो । संप्रवृत्तानि = प्राप्त । प्रकाशं च = सत्वगुण संबंधी प्रकाश से । प्रवृत्तिं च= रजोगुण संबंधी कार्यप्रवृत्ति से । मोहम् एव च = तमोगुण सम्बन्धी मोह से । न द्वेष्टि=द्वेष नहीं करता । निवृत्तानि = निवृत्त हुए उन गुण सम्बन्धों को । न काङ्क्षति = नहीं चाहता । उदासीनात् = तटस्थ की तरह । आसीनः = रहकर । गुणैः = गुणों से । नविचाल्येत = विचलित नहीं किया जाता । गुणाः = गुण । वर्तन्ते = बरतते हैं । इति एव = यह मानकर । यः = जो । भवतिष्ठति= (समझता) है । न इङ्गते =(किसी भी स्थिति में) विचलित नहीं होता । सम दुःख सुखः = दुःख सुख में समभाववाला । स्वस्थः = आत्मा में स्थिर रहनेवाला । समलोष्टाश्मकाञ्चनः = मिट्टी, पत्थर, सोना - इनके प्रति समबुद्धिवाला । तुल्यप्रियाप्रियः = इष्ट अइष्ट के प्रति समभाववाला । धीरः = धैर्यवान । तुल्यनिन्दात्म संस्तुतिः = निन्दा स्तुति के प्रति विकार रहित । मानापमानयोः = मान और अपमान के प्रति । तुल्यः = समबुद्धिवाला । मित्रारिपंक्षयोः = मित्र और शतृ के प्रति । तुल्यः = समबुद्धिवाला । सर्वारम्भ परित्यागी = सब कार्यों में कर्तृत्व भावना न रखनेवाला । सः = वह । गुणातीतः = गुणातीत । उच्यते = कहा जाता है ।

भावार्थ - श्री भगवान् बोले - हे अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश को और रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्यरूप मोह को भी न तो प्रवृत्त होने पर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकाङ्क्षा करता है ।

जो साक्षी के सदृश स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणों में बरतते हैं - ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहता है एवं उस स्थिति से कभी विचलित नहीं होता। जो निरन्तर आत्मभाव में स्थित, दुःख-सुख को समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रिय को एक सा माननेवाला और अपनी निन्दा, स्तुति में भी समान भाववाला है।

जो मान और अपमान में सम है, मित्र और वैरी के पक्ष में भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।

व्याख्या - गुणातीत के लक्षण यहाँ बताये गये हैं। इन लक्षणों के द्वारा जाना जा सकता है कि साधक गुणातीत बना कि नहीं ? गुणातीत पुरुष सत्वगुण सम्बन्धी प्रकाश, रजोगुण सम्बन्धी कार्यप्रवृत्ति तथा तमोगुण सम्बन्धी मोह के होने पर बिल्कुल तटस्थ रहता है। यहाँ मोह का अर्थ अज्ञान नहीं है। क्योंकि गुणातीत पुरुष अज्ञान से मुक्त होता है। भगवान श्रीकृष्ण के कथन के अनुसार "निश्चलता" एवं "समता" गुणातीत के प्रधान लक्षण हैं।

(१) निश्चलता - छोटी सी घटना घटे, तो अज्ञानी भयभीत हो जाता है। परन्तु गुणातीत पुरुष मेरुपर्वत के समान धीर गंभीर रहता है। त्रिगुणातीत योगी किसी भी बात या घटना से विचलित न होकर सदा आत्मस्थिति में लीन रहता है। विकट परिस्थितियाँ मन से सम्बन्धित हैं। गुणों से सम्बन्धित हैं। गुणातीत पुरुष को समझना चाहिए कि मैं गुणों से अलग हूँ। मन के अतीत हूँ। हिम्मत से उसे बरतना चाहिए। यही गुणातीत की पहचान है।

(२) समता - मान, अपमान, निन्दा- स्तुति, सुख-दुःख, इष्ट-अइष्ट, शत्रु-मित्र एवं शिला-कांचन के प्रति गुणातीत पुरुष को समबुद्धि से युक्त रहना

चाहिए। गुणातीत शुकमुनीन्द्र इसके उदाहरण हैं। सांसारिक द्वंद्वों के प्रति विचलित हुए बिना गुणातीत पुरुष समबुद्धि से रहता है।

"सर्वारम्भ परित्यागी" - इसका अर्थ समस्त कार्यों में कर्तृत्वभावना त्यागनेवाला" लेना ही उचित है। यह भी कहा जा सकता है कि बाकी सब कार्य छोडकर निरंतर ब्रह्मनिष्ठा में लीन रहना।

ऐसा व्यक्ति ही गुणातीत कहा जा सकता है। सभी साधकों को उस स्थिति तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए।

प्रश्न - गुणातीत के लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - जो व्यक्ति सत्वगुण सम्बन्धी प्रकाश, रजोगुण सम्बन्धी कार्य प्रवृत्ति तथा तमोगुण सम्बन्धी मोह के बारे में तटस्थ रहता है, सांसारिक द्वंद्वों से विचलित जो नहीं होता, जो सदा आत्मस्थिति में ही स्थित रहता है, जो सुख- दुःख, मान-अपमान आदि में समबुद्धि से रहता है, जो सभी कामों में कर्तृत्व भावना को त्याग देता है, वही गुणातीत पुरुष है। सद्गुण ही गुणातीत के लक्षण हैं।

२६. *मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।*
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

शब्दार्थ - यः = जो। मां च = मुझ ही का। अव्यभिचारेण = अचंचल। भक्तियोगेन = भक्तियोग से। सेवते = सेवन करता है। सः = वह। एतान् = इन। गुणान् = गुणों को। समतीत्य = अच्छी तरह पारकर। ब्रह्मभूयाय = ब्रह्म बनने को। कल्पते = समर्थ बनता है।

भावार्थ - जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणों को भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होने के लिये योग्य बन जाता है।

व्याख्या - त्रिगुणों के ऊपर परमात्मा है। त्रिगुणों को पार करने पर ही परमात्मा प्राप्त होते हैं। इसके लिए काफी विचार, मनोनिग्रह तथा संयम आवश्यक हैं। परन्तु भक्ति सहायक रहे, तो ज्ञान की यह स्थिति बहुत सुलभ है। इसीलिए गीताचार्यने गीता के हर अध्याय में भक्ति की महिमा का गुणगान किया। इस चौदहवें अध्याय में यद्यपि ज्ञान का उपदेश दिया, फिर भी इसके अंत में भी भक्तियोग की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने बताया कि सामान्य भक्ति काफी नहीं है, अचंचल भक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, अनन्य भक्ति आवश्यक है। भक्तिमार्ग सब के लिए सुलभ है। उत्तम भक्ति प्राप्त कर, उसके द्वारा भगवान की कृपा, तद्वारा ब्रह्मज्ञान, फिर उसके द्वारा ब्रह्मानुभूति हासिल करनी चाहिए। यही बात इस श्लोक में बतायी गयी।

इस श्लोक में अच्छी तरह बताया गया कि ब्रह्मत्व कैसे प्राप्त किया जा सकता है ! मोक्ष सिद्धि कैसे हो सकती है ! स्पष्ट बताया गया कि अचंचल भक्ति के होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति के योग्य बन सकते हैं। यहाँ योग्यता ही मुख्य है, न कि जात पांत, वर्ग-वर्ण।

'अतीत्य' न कहकर "समतीत्य" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि निर्मल भक्तिवाले ही त्रिगुणों को पार कर सकते हैं। अतः सुलभतर इस भक्तियोग की सहायता से साधक आत्मज्ञान पाकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

२७. ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

शब्दार्थ - हि = क्योंकि। अहम् = मैं। अमृतस्य = नाशरहित। अव्ययस्य च = निर्विकार। शाश्वतस्य धर्मस्य च = शाश्वत धर्मस्वरूप। एकांतिकस्य सुखस्य च = निरतिशय आनन्द स्वरूप। ब्रह्मणः = ब्रह्म का। प्रतिष्ठा = आश्रय हूँ।

भावार्थ - क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्म का और अमृत का तथा नित्यधर्म का और अखण्ड एकरस आनन्द का आश्रय मैं हूँ।

व्याख्या - पिछले श्लोक में भगवानने बताया कि अचंचल भक्ति से जो मेरी सेवा करते हैं, वे त्रिगुणों को पारकर ब्रह्म को पाते हैं। फिर इस श्लोक में बता रहे हैं कि वे खुद कौन हैं और अपना यथार्थ स्वरूप क्या है। श्रीकृष्ण साधारण मनुष्य नहीं हैं। साक्षात् परब्रह्म हैं। परमात्मा हैं। वह सत्य ही यहाँ बताया गया। श्रीकृष्ण केवल यशोदा के पुत्र ही नहीं, बल्कि अविनाशी, शाश्वत धर्म स्वरूप, आनन्द स्वरूप परब्रह्म हैं। यह बात उन्होंने स्वयं कही, जो अचंचल भक्ति के साथ उनका ध्यान करते हैं, वे भ्रमर कीट न्याय के अनुसार उन्हीं में अर्थात् ब्रह्म ही में लीन होते हैं। ब्रह्म रूप होते हैं। ध्याता ध्येया कार में परिणत होते हैं। उस परब्रह्म के स्वरूप के बारे में भी यहाँ बताया गया। (१) अमृत एवं अव्यय हैं, अर्थात् मरणरहित एवं विकार वर्जित है। इन शब्दों के द्वारा ब्रह्म के 'सत्' रूप का निरूपण किया गया। (२) शाश्वत धर्म का स्वरूप है। इस शब्द के द्वारा ब्रह्म के चित् स्वरूप का निरूपण किया गया। (३) निरतिशय आनन्द रूप है। इस शब्द के द्वारा "आनन्द" अंश का निरूपण किया गया। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्णने बताया कि सत् चित् आनन्द स्वरूप खुद वे ही हैं। उपासना की सुलभता के लिए आरंभ में श्रीकृष्ण का ध्यान यशोदा के पुत्र के रूप में, श्रीराम का ध्यान कैसल्या के पुत्र के रूप में कर सकते हैं। परन्तु समझना चाहिए कि वे दोनों सच्चिदानन्द निर्गुण परब्रह्म के रूप हैं। इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि द्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं अद्वैत तीनों का लक्ष्य वास्तव में एक ही है। क्योंकि द्वैत एवं विशिष्टाद्वैतवाले जिस भगवान स्वरूप की अर्चना करते हैं, वह रूप वास्तव में सच्चिदानन्द का ही है। भक्तियोग और ज्ञानयोग दोनों इस अध्याय में गले मिल रहे हैं। इसलिए उन उन मार्गावलम्बियों को चाहिए कि वे अनावश्यक

वाद-विवाद छोड दें। निश्चय करें कि सबके ध्यान का केन्द्र वह परब्रह्म ही हैं। फिर वे अपनी अपनी उपासना पद्धति के अनुसार ध्येय का निर्णय करके उस परब्रह्म में स्थित हो जायँ।

प्रश्न - श्रीकृष्ण वास्तव में कैसे हैं ?

उत्तर - परब्रह्म के स्वरूप हैं।

प्रश्न - परब्रह्म कैसे हैं ?

उत्तर - (१) नाशरहित हैं। निर्विकार है (सत्) (२) शाश्वत धर्म रूप हैं (चित्)। (३) निरतिशय आनन्दरूप हैं (आनन्द)।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।।

यह उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णर्जुन संवाद रूपी श्री भगवद्गीता का गुणत्रय विभाग शीर्षक चौदहवाँ अध्याय है।

- ॐ तत् सत् -

ॐ

श्री भगवद्गीता

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

पन्द्रहवाँ अध्याय

पुरुषोत्तम प्राप्तियोगः

पुरुषोत्तम प्राप्तियोग

इस अध्याय का शीर्षक

पुरुषोत्तम प्राप्तियोग – पुरुषोत्तम का मतलब है, परमात्मा। उपाधि (क्षेत्र) नामक क्षर पुरुष एवं जीव नामक अक्षर पुरुष से भिन्न होकर उन दोनों से उत्तम होने के कारण परमात्मा का नाम पुरुषोत्तम पडा। उस पुरुषोत्तम परमात्मा का स्वरूप क्या है ? वह कैसा है ? उसे प्राप्त करने का मार्ग क्या है ? उसे प्राप्त करने का फल क्या है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर इस अध्याय में दिया गया। इसलिए इस अध्याय का शीर्षक पुरुषोत्तम प्राप्तियोग रखा गया।

इस अध्याय के प्रधान विषय

१. संसार वृक्ष का वर्णन, भगवत्प्राप्ति का उपाय (श्लोक १ से श्लोक ६ तक)।

२. जीवात्मा के बारे में विचार (श्लोक ७ से श्लोक ११ तक)।

३. सर्वत्र भगवान के अस्तित्व को समझना, भगवान के प्रभाव का वर्णन (श्लोक १२ से श्लोक १५ तक)।

४. क्षराक्षर पुरुष तथा पुरुषोत्तम के बारे में विवरण (श्लोक १६ से श्लोक २० तक)।

सम्बन्ध - चौदहवें अध्याय में पाँचवें से अठारहवें श्लोक तक तीनों गुणों के स्वरूप, उनके कार्य एवं उनकी बन्धनकारिता का और बँधे हुए मनुष्यों की उत्तम, मध्यम और अधम गति आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन करके उन्नीसवें और बीसवें श्लोक में उन गुणों से अतीत होने का उपाय और फल बतलाया गया। उसके बाद अर्जुन के पूछने पर बाईसवें से पच्चीसवें श्लोक तक गुणातीत पुरुषके लक्षणों और आचरणों का वर्णन करके छब्बीसवें श्लोक में सगुण परमेश्वर के अव्यभिचारी भक्तियोग को गुणों से अतीत होकर ब्रह्मप्राप्ति के लिये योग्य बनने का सरल उपाय बतलाया गया, अत एव भगवान् में अव्यभिचारी भक्तियोगरूप अनन्य प्रेम उत्पन्न कराने के उद्देश्य से अब उस सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान् के गुण, प्रभाव और स्वरूप का एवं गुणों से अतीत होने में प्रधान साधन वैराग्य और भगवत्-शरणागति का वर्णन करनेके लिये पंद्रहवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले संसार में वैराग्य उत्पन्न कराने के उद्देश्य से तीन श्लोकों द्वारा संसार का वर्णन वृक्ष के रूप में करते हुए वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा उसका छेदन करने के लिये कहते हैं -

श्रीभगवानुवाच

१. *ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।*
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले। यस्य = जिसे। छन्दांसि = वेद। पर्णानि = पत्तों के रूप में हैं। अश्वत्थम् = संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष। ऊर्ध्व मूलम् = ऊपर जडोंवाले। अधः शाखम् = नीचे डालोंवाले। अव्ययम् = नाशरहित। प्राहुः = कहते हैं। तत् = उसे। यः = जो। वेद = जानता है। सः = वह। वेदवित् = वेदार्थ को जाननेवाला है।

भावार्थ - श्रीभगवान् बोले - आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाले और ब्रह्मारूप

मुख्य शाखावाले जिस संसार रूपी पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं, उस संसार रूपी वृक्ष को जो पुरुष मूलसहित तत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्यको जाननेवाला है।

व्याख्या - संसार की तुलना एक वृक्ष से की गयी। लेकिन वह सभी वृक्षों की तरह जडें और शाखाएँ ऊपर नहीं हैं। मामला बिल्कुल उलटा है। इस वृक्ष की शाखाएँ नीचे हैं और जडें ऊपर हैं। इसके निम्नलिखित कारण बताये जाते हैं -

१. परमात्मा से ही मद, अहंकार आदि एवं समस्त जगत् का आविर्भाव हुआ। इसलिए ऊपर विलसित वह परमात्मा ही नीचे स्थित इस जगत् का मूलकारण है, यह जताने के लिए संभव है कि इस वृक्ष का उलटा चित्रण किया गया हो।

२. वास्तव में माया के कार्य सब उलटे होते हैं। पतंजलि ने कहा था कि अनित्य, अशुचि, दुःख, अनात्मसु, नित्य, शुचि, सुखात्मख्यातिरविद्या अर्थात् अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख तथा अनात्मा को आत्मा मानने को जो मजबूर करे, वही अविद्या (माया) है। इसी तरह संसार वृक्ष उलटा बताया गया।

"अश्वत्थम्" - श्वः का अर्थ है कल, न स्थ = जो नहीं रहता, वह अश्वत्थ है। अश्वत्थ का मतलब है पता नहीं कि कल रहेगा कि नहीं सन्देहास्पद है यह संसारवृक्ष। नश्वर शरीरों तथा क्षणभंगुर पदार्थों से युक्त होकर नाशवान एवं विकारों से युक्त होने के कारण "अश्वत्थम्" नाम इसकेलिए लायक है। परन्तु यहाँ अव्ययम् (नाशरहित) बताया गया। उसका अर्थ है कि नित्य प्रवाहयुक्तं न कि शाश्वत। आत्मज्ञान के प्राप्त होने तक जनन मरण जीव का साथ नहीं छोडते, अतः यह संसार वृक्ष शाश्वत कहा गया। वास्तव में नित्यता उसकी नहीं है। इसीलिए अगले श्लोक में ही भगवानने कहा कि असंग रूपी शस्त्र से इस वृक्ष को काटना चाहिए। "यस्तं वेद स वेदवित्" - कहा गया कि

इस संसार का रहस्य जान लें, तो वेदों का सार मालूम हो जाएगा। वेद घोषित करते हैं कि प्रतिबिंबरूप इस जगत् का मूलाधार बिंबरूप परमात्मा ही है। जो यह रहस्य जानता है, वह वेदार्थ को अच्छी तरह जानता है।

प्रश्न – संसारवृक्ष कैसा है ?

उत्तर – (१) जडें ऊपर और शाखाएँ नीचे उसकी रहती हैं। (२) ज्ञान की प्राप्ति तक उसका नाश नहीं होता। (३) वेद ही उसके पत्ते हैं।

प्रश्न – वेदार्थ जाननेवाला कौन है ?

उत्तर – संसारवृक्ष के इस स्वरूप को जाननेवाला जो यह जानता है कि इस जगत् का आविर्भाव परमात्मा से होता है, वह वेदार्थ जाननेवाला है।

२. ***अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।***
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥

शब्दार्थ – तस्य = उस वृक्ष की। शाखाः = शाखाएँ। गुणप्रवृद्धाः = गुणों से बढी हुई। विषयप्रवालाः = विषय भोग रूपी कोंपलोंवाली। अधः च = नीचे की ओर। ऊर्ध्वं च = ऊपर की ओर। प्रसृताः = व्याप्त हैं। मनुष्यलोके = मनुष्यलोक में। कर्मानुबन्धीनि = कर्मों के अनुसार बांधनेवाली। मूलानि = जडें। अधः च = नीचे। अनुसन्ततानि = खूब व्याप्त हैं।

भावार्थ – उस संसारवृक्ष की तीनों गुणोंरूप जल के द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयभोगरूप कोंपलोंवाली देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ, नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोक में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासना रूप जड़ें भी नीचे और सभी लोकों में व्याप्त हो रही हैं।

व्याख्या – यह संसार वृक्ष साधारण नहीं है। विशाल है। इसकी जडें अनादि काल से भूमि में जमी हुई हैं। कर्मवासनाएँ ही इसकी जडें हैं। सत्व, रज एवं तमोगुण रूपी इसकी सुदृढ शाखाएँ हैं। शब्दादिविषयों के सेवन से इसकी

कोंपलें बढी हैं। वृक्ष का मूल आधार जिस प्रकार जड है, उसी प्रकार इस संसार वृक्ष की जड विषयवासनाएँ हैं। इसलिए विज्ञ लोगों का कर्तव्य है कि उन विषयवासनाओं को हृदय से मिटा लें और संसार के बन्धनों से मुक्त हों।

प्रश्न – संसार वृक्ष कैसा है ?

उत्तर – (१) उसकी शाखाएँ सत्व, रज एवं तमोगुणों से बढी। शब्दादि विषयों की कोंपलें नीचे ऊपर सब जगह व्याप्त हैं। मनुष्य लोक में कर्म सम्बन्ध जोडनेवाली उसकी जडें नीचे ऊपर गहरी जमी हैं।

३. *न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।*
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

४. *ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।*
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

शब्दार्थ – अस्य = इस वृक्ष को। रूपम् = स्वरूप। तथा = वैसे ही। इह =इस लोक में। न उपलभ्यते = नहीं पाया जाता। अन्तः = अंत। न = नहीं दीखता। आदिर्न च = जड भी नहीं दीखती। संप्रतिष्ठा च न = मध्य भी दिखाई नहीं देता। सविरूढमूलम् = खूब जमी जडों वाला। एवम् = इस। अश्वत्थम् = संसाररूपी अश्वत्थवृक्ष। दृढेन = सुदृढ। असंगशस्त्रेण = असंग पदर्थों में रुचि न रखना रूपी शस्त्र से। चित्वा = काटकर। यस्मिन् = जिस स्थान में। गताः = प्रवेश करनेवाले। भूयः = फिर से। न निवर्तन्ति= पीछे नहीं आते। यतः = जिससे। पुराणि = अनादि। प्रवृत्तिः = इस वृक्ष की प्रवृत्ति। प्रसृता = व्याप्त हुआ। तम् एव च आद्यं पुरुषम् = उस आदि पुरुष परमात्मा को। प्रपद्ये = शरण लेता हूँ। तत् पदम् = वह स्थान। परिमार्गितव्यम् = खोजने योग्य है।

भावार्थ – इस संसार वृक्ष का स्वरूप जैसा कहा है, वैसा यहाँ विचारकाल में नहीं पाया जाता। क्योंकि न इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकार से स्थिति ही है। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ

मूलोंवाले संसाररूप पीपल के वक्ष को दृढ वैराग्यरूप शास्त्र द्वारा काटकर - उसके पश्चात् उस परम पदरूप परमेश्वर को भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसार में नहीं आते और जिस परमेश्वर से इस पुरातन संसार-वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायण की मैं शरण लेता हूँ - इस प्रकार दृढ निश्चय करके उस परमेश्वर का मनन और निदिध्यासन करना चाहिये।

व्याख्या – प्रश्न उठता है कि यह संसारवृक्ष क्यों दिखाई नहीं देता ? सांसारिक आसक्तियों में लगे लोगों को वह दिखाई नहीं देता। उसके आदि, अंत और मध्य के भाग भी देखे नहीं जा सकते। इसके कारण अविद्या एवं अज्ञान ही हैं।

यह संसार वृक्ष अनादिकाल से धरती में गहराई तक अपनी जडें जमा चुका है। भगवान ने स्वयं कहा कि उसकी जडें मजबूत हैं। इससे निराश होने की जरूरत नहीं है। मजबूत वृक्ष भी अस्त्र शस्त्र से काटा जा सकता है। इस संसारवृक्ष को काटने के लिए भगवान श्रीकृष्णने असंग रूपी हथियार को सूचित किया। सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति रखना ही संग कहलाता है। उसका राहित्य ही असंग है। बडे बडे पहुँचे हुए साधु पुरुष संसार में रहते हुए भी असंग भाव से युक्त रहते हैं। इससे उन्हें सांसारिक बातें तकलीफ नहीं पहुँचाती। असंग की भावना बाहरी संसार के अलावा अन्तर जगत् में भी रखनी चाहिए। तभी वह पूर्ण होगी। सांसारिक वृक्ष को काटने के बाद दृक् स्वरूप का आश्रय लेना चाहिए। यह मुख्य काम है। दृश्य जगत् के प्रति विरक्ति तथा आत्मपद की प्राप्ति दोनों आवश्यक हैं।

संसार में सब से श्रेष्ठ परमात्मा का पद है। इसीलिए यहाँ कहा गया कि प्रयत्न करके उसे पाना चाहिए। किसी भी लोक में जावें, तो लौट आना पडता है। फिर जन्म लेना पडता है। परन्तु परमात्मा को पाने के बाद फिर जन्म लेने की जरूरत नहीं होती। वह शाश्वत पद है। सभी को उसे पाने का प्रयत्न करना चाहिए। निर्मल भक्ति जिनमें होती है, वे जल्दी आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

प्रश्न – संसारवृक्ष कैसा है ?

उत्तर – गहराई तक जडें जमा चुका है।

प्रश्न – उसको किससे काटा जा सकता है ?

उत्तर – 'असंग' रूपी हथियार से उसे काट सकते हैं।

प्रश्न – संसारवृक्ष को काटने के बाद क्या करना चाहिए ?

उत्तर – परमात्मा पद का अन्वेषण करना चाहिए।

प्रश्न – परमात्मा कैसा है।

उत्तर – (१) उन्हें पानेवाले फिर वापस नहीं आते (२) उसीसे यह सारा संसार उत्पन्न हुआ। (३) वह आदि पुरुष है।

सम्बन्ध – अब उपर्युक्त प्रकारसे आदिपुरुष परमपदस्वरूप परमेश्वर की शरण होकर उसको प्राप्त हो जानेवाले पुरुषों के लक्षण बतलाये जाते हैं –

५. *निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।*
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

शब्दार्थ – निर्मानमोहाः = अभिमान तथा अविवेक रहित। जित सङ्गदोषाः = संग दोष को जीतनेवाले। अध्यात्मनित्याः = निरंतर आत्मज्ञान से युक्त। विनिवृत्तकामाः = इच्छाएँ त्यागने वाले। सुख दुःख संज्ञैः = सुख दुःख नामक। द्वंद्वैः = द्वंद्वों से। विमुक्ताः = भली भांति मुक्त। अमूढाः = अज्ञान रहित। तत् = उस अव्ययम = अविनाशी। पदम् = पद (मोक्ष)। गच्छन्ति = पाते हैं।

भावार्थ – जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोष को जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूप से नष्ट हो गयी हैं – वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त ज्ञानीजन **उस** अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।

व्याख्या – इस श्लोक में बताया गया कि पुनरावृत्ति रहित शाश्वत ब्रह्मपद कौन पा सकते हैं। बताया गया कि सात अच्छे लक्षणवाले उसे पा सकते हैं। वे निम्न प्रकार हैं —

१. अभिमान तथा अविवेक राहित्य।

२. संगदोष को जीतना।

३. निरंतर आत्मा में निष्ठा के साथ स्थित रहना। संसार में तीन प्रकार के लोग रहते हैं। कुछ लोग निरंतर आत्मस्थिति तथा दैवी भावना से युक्त रहते हैं। ये उत्तम हैं। कुछ लोग थोडी देर दैवी कार्मों में लीन रहकर फिर सांसारिक कामों में लग जाते हैं। ये मध्यम हैं। साधना के आधार पर ये प्रथम श्रेणी में पहुँच सकते हैं। कुछ लोग सांसारिक मोहों मं लिप्त रहकर भगवान का ध्यान बिल्कुल नहीं करते। ये कनिष्ठ हैं। यह स्थिति निंद्य है। विवेकवान लोगों को इसे छोड देना चाहिए।

४. मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए आवश्यक चौथा सद्गुण इच्छाओं तथा वासनाओं को हृदय से मिटा देना है। इस श्लोक का स्मरण मुमुक्षुओं को सदा करते रहना चाहिए। क्योंकि तत्वज्ञान एवं वासना क्षय में ही साधना की तीव्रता निहित रहती है। साधक को इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

५. अब पांचवीं साधना सुख दुःखादि द्वंद्व राहित्य है।

६. अमूढता छटी साधना है। अर्थात् अज्ञान राहित्य। अज्ञान एवं अविद्या को पास आने नहीं देना चाहिए।

भगवान के द्वारा बताये गये ये छः साधनाएं अमल में जो लाते हैं, वे अव्यय मोक्ष पाते हैं। अतः विज्ञ लोगों को इन्हें अमल में लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न – परमात्मा का पद कैसा है ?

उत्तर – अव्ययात्मक है। नाशरहित है।

प्रश्न – उसे कौन पा सकते हैं ?

उत्तर – (१) अभिमान एवं अविवेक से जो रहित हैं। (२) संग दोष को जो जीतते हैं। (३) निरंतर आत्मस्थिति में जो रहते हैं। (४) इच्छाओं को पूर्णरूप से जो मिटा लेते हैं। (५) सुख दुःख आदि द्वंद्वों से जो छूटते हैं। (६) मूढता से जो रहित होते हैं, वे परमात्मा का पद पा सकते हैं।

६. *न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।*
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

शब्दार्थ – तत् = उस स्थान को। सूर्यः = सूर्य। न भासयते = प्रकाशित नहीं कर सकता। शशाङ्कः = चन्द्र। न (भासयते) = प्रकाशित नहीं कर सकता। पावकः = अग्नि। न (भासयते) = प्रकाशित नहीं कर सकती। यत् = जिसे। गत्वा = पाकर। न निवर्तन्ते = वापस नहीं आ सकते। तत् = वह। मम=मेरा। परम् = श्रेष्ठ। धाम = स्थान है।

भावार्थ – जिस परमपद को प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसार में नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परमपद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि, वही मेरा परमधाम है।

व्याख्या – सूर्य,चन्द्र और अग्नि दृश्य वस्तुओं को प्रकाशित करते हैं। क्षेत्र उन सूर्य चन्द्र अग्नि को प्रकाशित करता है। बुद्धि उस क्षेत्र को प्रकाशित करती है। आत्मा उस बुद्धि को प्रकाशित करता है। पिर सूर्य चन्द्र और अग्नि आत्मा को कैसे प्रकाशित करेंगे ? मुंडकोपनिषद् में इस बात का भली भांती स्पष्टीकरण किया गया।

"यद्गत्वा न निवर्तन्ते" - जो साधक आत्म स्थान पाते हैं, वे फिर जन्म परंपरा एवं सांसारिक दुःख के गर्त में नहीं गिरते। ब्रंह्मांड के हर लोक से वापस आकर फिर जन्म लेना पडता है। दुःख का अन्त कर सकने की शक्ति उसमें नहीं होती। लेकिन एक मात्र परमात्मा के स्थान में वह शक्ति रहती है। जो वह स्थान पाते हैं, वे फिर जन्म नहीं लेते। वह शाश्वत मोक्ष का पद है। यह बात इस श्लोक में बतायी गयी है।

भगवान अपने स्थान के बारे में 'परमम्' कहा है। इससे भगवान का स्पष्ट मत है कि संसार के सभी पदों में ब्रह्मपद सर्वश्रेष्ठ है। अतः भगवान ने सर्वश्रेष्ठ हैं। उसीको अपनाना चाहिए। उसी के आश्रय में विज्ञ लोगों को जाना चाहिए।

सम्बन्ध - पहले से तीसरे श्लोक तक संसारवृक्ष के नाम से क्षर पुरुष का वर्णन किया, उसमें जीवरूप अक्षर पुरुष के बन्धन का हेतु उसके द्वारा मनुष्ययोनि में अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये हुए कर्मों को बताया तथा उस बन्धन से छूटने का उपाय सृष्टिकर्ता आदि पुरुष की शरण ग्रहण करना बताया। इस पर यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त प्रकार से बँधे हुए जीव क्या स्वरूप है ? और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? उसे कौन कैसे जानता है ? अतः इन सब बातों का स्पष्टीकरण करने के लिये पहले जीव का स्वरूप बतलाते हैं -

७. *ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।*
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

शब्दार्थ - मम एव = मेरा ही। सनातनः = अनादि। अंशः = अंश। जीवलोके = जीव लोक में। जीवभूतः = जीव होकर। प्रकृति स्थानि= प्रकृति में स्थित। मनः षष्ठानि = मन से मिलाकर छः (त्वक्, चक्षुः, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण और मन) इन्द्रियाणि = इन्द्रियों को। कर्षति = आकर्षित करता है।

भावार्थ – इस देह में सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है और वही इस प्रकृति में स्थित मन और पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है।

व्याख्या – "ममैवांशः" - जीव (जीवात्मा) एवं परमात्मा वास्तव में अलग नहीं हैं। परमात्मा का अंश ही जीव है। जीव साक्षात् परमात्मा ही है। दोनों सनातन हैं, नित्य हैं। परन्तु अज्ञान के कारण जीव यह रहस्य जान नहीं पाता। उपाधि एवं उससे सम्बन्धित गुणों को अपने ऊपर आरोपित कर जीव कर्तृत्व की भावना रख रहा है। घटाकाश वास्तव में विशालाकाश का ही अंश है। विशालाकाश के सब लक्षण घटाकाश में होते हैं। इसी प्रकार परमात्मा की सनतनता जीव में होती है। जब जीव उपाधि भाव त्यागकर सच्चे स्वरूप को जान लेगा, तब वह स्वयं भगवान बन जाएगा। ऐसी हालत में सभी जीव समान ही हैं। ऊँच-नीच तथा वर्ग-वर्ण का उनमें भेद नहीं होता। अतः सभी जीवों पर दया, करुणा एवं प्रेम दिखाकर सब का उपकार करना चाहिए। भगवान के इस आश्वासन से जीवों को स्फूर्ति मिलती है। जीव वास्तव में अल्प नहीं है। लेकिन वह भगवान को भूलकर प्रकृति के वशवर्ती होकर जी रहा है। यह रहस्य वह जान ले, तो वह आत्म साक्षात्कार कर सकेगा।

जीव को समझना चाहिए कि उसका स्वस्थान यह जीवलोक नहीं है, आत्मलोक है। इस प्रकृति का ही आश्रय लें, तो जन्मों की परंपरा जीव को नहीं छोडेगी। अतः जीव का कर्तव्य है कि वह निज स्वरूप को पहचान ले, परमात्मा के ध्यान एवं स्मरण में रत रहकर परमात्मा का रूप प्राप्त करे।

प्रश्न – जीव वास्तव में कैसा है ?

उत्तर – भगवान का अंशज है , सनातन है।

प्रश्न – अज्ञान के कारण जीव क्या कर रहा है ?

उत्तर – अपने को उपाधि मानकर, इन्द्रियों एवं मन से मिलकर जी रहा है।

प्रश्न – जीव को क्या करना चाहिए ?

उत्तर – सच्चे रूप को पहचानना चाहिए। परमात्मा का स्मरण करना चाहिए। परमात्मा का रूप प्राप्त करना चाहिए। वही मोक्ष है।

८. *शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।*
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

शब्दार्थ – ईश्वरः = देहेन्द्रियादि समूह के प्रभु जीव। यत् च अपि = जब। उत्क्रामति = रवाना होता है। यत् = जब। शरीरम् = शरीर को। अवाप्नोति = पाता है। (तदा = तब) । आशयात् = पुष्पादि स्थानों से। वायुः = हवा। नान् इव = गन्ध को ले जाती है। एतानि = इन इन्द्रियों को। गृहीत्वा = ग्रहण कर। संयाति = निकलता है।

भावार्थ – वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है, उसी में जाता है।

व्याख्या – यहाँ कहा गया कि इस शरीर को त्यागते समय और दूसरा शरीर पाते समय से स्पष्ट होता है कि जीव शरीर नहीं है, शरीर से भिन्न है, जीव वस्त्र की तरह शरीर को धारण करता और छोडता रहता है। अतः देहाभिमान को छोड देना चाहिए।

"ईश्वरः" (प्रभु) कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि जीव वास्तव में शरीर, इन्द्रिय, मन तथा देह में स्थित अन्य पदार्थों का प्रभु है। सेवक नहीं। परन्तु जीव अज्ञानी बनकर ईश्वर की स्थिति से च्युत होकर इन्द्रिय एवं मन का गुलाम बनकर दीन हीन जीवन बिता रहा है। उनके कहे अनुसार नाच रहा है।

यह ठीक नहीं। हर जीव का यह कर्तव्य है कि वह अपनी स्थिति को सुधार ले, अपने ईश्वर स्वरूप को पहचान कर जीवन को धन्य बना ले।

"गृहीत्वैतानि संयाति" - कहा गया कि जब जीव शरीर त्याग देता है और दूसरा शरीर ग्रहण करता है, तब इन्द्रियों को साथ ले चलता है। जीव अपने जीवन काल को अनेक संसारिक पदार्थों के सेकरण एवं सेवन में बिता रहा है। परन्तु अन्तिम समय में उन में से एक वस्तु भी साथ नहीं चलती। परन्तु पांच ज्ञानेन्द्रिय एवं मन, कुल छः इन्द्रियों को ले चलता है। अतः इन्हें शुद्ध एवं पवित्र रखना चाहिए। इसके लिए जीवन में पारमार्थिक साधना करनी पडती है। क्योंकि ये छः इन्द्रियां जीव के साथ चलकर नया जन्म प्राप्त कराती हैं। इन्द्रिय एवं मन शुद्ध रहें तो शुद्ध जन्म मिलेगा, मलिन रहें, तो क्षुद्र जन्म मिलेगा। अतः भविष्य का जन्म जीव के हाथ में ही है। इसलिए जीव को चाहिए कि वह इन छः इन्द्रिय एवं मन को आध्यात्मिक चिन्तन के द्वारा पावन बनाकर पतन के गर्त में गिरने से अपने को बचा ले।

ये इन्द्रिय और मन ही मृत्यु के बाद जीव के संबल बनते हैं। इन्हें छोडकर साथ एक तिनका भी नहीं चलता। मृत्यु के समय कोई काम नहीं आता। कोई साथ नहीं आता। पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री, भाई, बन्धु, गृह, संपत्ति, धन, धान्य कोई साथ नहीं देता। वे चलना चाहें, तो भी नहीं चल सकते। शुद्ध इन्द्रिय एवं मन ही उस समय जीव के सहायक बन सकते हैं। उन्हींको जीव के साथ चलने और उसकी सहायता करने का हक है। वे ही रक्षक बनकर जीव के साथ चलते हैं। अतः जीवन पर्यंत साधना के द्वारा इन इन्द्रिय एवं मन को पवित्र, निर्मल एवं शुद्ध बनाना चाहिए। अपने उज्वल भविष्य का निर्माण जीव को यहीं करना चाहिए। नीच जन्म, शुद्ध जन्म एवं जीवन राहित्य तीनों जीव के हाथ में ही रहते हैं। अतः जन्म राहित्य के लिए ही जीव को प्रयास करना चाहिए। उसके लिए आवश्यक पवित्र वातावरण का सृजन कर लेना चाहिए।

"वायुर्गन्धानिवाशयात्" - श्रीकृष्णने अपनी बात का स्पष्टीकरण भलीभांति करने के लिए सुन्दर उपमान दिया है। सुगन्ध या दुर्गन्ध को हवा एक जगह से दूसरी जगह ले जाती है। वह गन्ध उन उन वस्तुओं से वह ग्रहण करती है। एक जगह से दूसरी जगह में उस गन्ध को व्याप्त करती है। इस विषय में वह पक्षपात नहीं करती। इसी प्रकार जीव मृत्यु के बाद इन्द्रिय तथा मन साथ लेकर नूतन शरीर में प्रवेश करता है। इन्द्रिय एवं मन पवित्र हों, तो उन्हें साथ ले जाकर दूसरे शरीर में प्रवेश कर उसे भी शुद्ध एवं पवित्र बनाता है। यहाँ कोई किसी तरह का पक्षपात नहीं करता। चित्त में जो संस्कार होते हैं, उन्हीके अनुसार जन्म का निर्माण होता है। अतः जीव को अपने भविष्य जीवन का निर्माण यहीं कर लेना चाहिए। अपने जीवन काल में निरंतर इन्द्रिय एवं मन को शुद्ध करे, वश में रखे, तो वे जीव को सद्गति दिलाकर अन्त में जन्म राहित्य प्रदान करते हैं।

प्रश्न - शरीर छोडते समय और दूसरा शरीर ग्रहण करते समय जीव अपने साथ कौन सी चीजें ले चलता है ?

उत्तर - मन, इन्द्रिय तथा उनमें विद्यमान संस्कारों को ले चलता है।

प्रश्न - किस प्रकार ले चलता है ?

उत्तर - जिस प्रकार हवा सुगन्धित या दुर्गन्धित वस्तु से सुगन्ध या दुर्गन्ध ले चलती है, उसी प्रकार जीव इन्द्रिय एवं मन के संस्कारों को साथ ले चलता है।

९. *श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।*
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥

शब्दार्थ - अयम् = यह जीव। श्रोत्रम् = कान को। चक्षुः = नेत्र को। स्पर्शनम् च = चर्म को। रसनम् = जीभ को। घ्राणम् एव च = नाक को। मनः च = मन को। अधिष्ठाय = आश्रय लेकर। विषयान् = शब्दादि विषयों का। उपसेवते = सेवन करता है।

भावार्थ - यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा को तथा रसना, घ्राण और मन को आश्रय करके अर्थात् इन सब के सहारे से ही विषयों का सेवन करता है।

व्याख्या - "अधिष्ठाय मनश्चायम्" - "मन एवं इन्द्रियों का आश्रय लेकर" कहने से वास्तव में जीव मन एवं इन्द्रियों से अलग है, इन्द्रिय एवं मन उपाधि रूप ही हैं, (अज्ञान के कारण) इस उपाधि का आश्रय लेकर वह सुख और दुःख भोग रहा है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय विकार तथ मनोविकार आत्मा को प्रभावित नहीं करते।

प्रश्न - जीव (जीवात्मा) किन किन इन्द्रियों का आश्रय लेकर विषयों को भोग रहा है?

उत्तर - (१) कान (२) नेत्र (३) त्वचा (४) जीभ (५) नाक नामक पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा। (१) मन का आश्रय लेकर विषयों को जीव भोग रहा है।

सम्बन्ध - जीवात्मा को तीनों गुणों से सम्बद्ध, एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जानेवाला और शरीर में रहकर विषयों का सेवन करनेवाला कहा गया। अतएव यह जिज्ञासा होती है कि ऐसे आत्मा को कौन कैसे जानता है और कौन नहीं जानता? इस पर दो श्लोकों में भगवान् कहते हैं -

१०. उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥

शब्दार्थ - उत्क्रामन्तम् = (एक शरीर से दूसरे शरीर के लिए) निकलनेवाला। वा = या। स्थितम् = शरीर में स्थित। वा = या। भुञ्जानम् = विषयों का भोग करनेवाला। गुणान्वितम् अपि = गुणों से युक्त। (एनम् = इस जीवात्मा को)। विमूढाः = अज्ञानी। न अनुपश्यन्ति = नहीं देख सकते। ज्ञान चक्षुषः = ज्ञानदृष्टिवाले। पश्यन्ति = देखते हैं।

भावार्थ - शरीर को छोड़कर जाते हुए को अथवा शरीर में स्थित हुए को

अथवा विषयों को भोगते हुए को इस प्रकार तीनों गुणों से युक्त हुए को भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले विवेकशील ज्ञानी ही तत्त्व से जानते हैं।

व्याख्या - कई लोग प्रश्न करते हैं कि भगवान हमें क्यों दिखाई नहीं देते ? उसका उत्तर भगवान श्रीकृष्णने इसी श्लोक में दिया। भगवान ने बताया कि यदि तुम ज्ञान नेत्र पा सकोगे तो, यहीं इस शरीर में ही परमात्मा को देख सकोगे। "इसके लिए दूर जाने की जरूरत नहीं है। स्वशरीर में ही उसे देख सकते हैं। खाते, पीते, अनुभव करते उस व्यक्ति को विवेक, सूक्ष्मदृष्टि तथा ज्ञान नेत्र से मनुष्य देख सकता है। सांसारिक दृश्य पदार्थों तथा वासनाओं के प्राबल्य से अज्ञानी उसे देख नहीं पाते। दर्पण को संसार की ओर घुमाकर रखें, तो उसमें अपना चेहरा दिखाई नहीं देता। अपनी ओर उसे घुमा लें, तो उसमें अपना चेहरा दिखाई पडेगा। इसी प्रकार मन को बहिर्मुखी, चपल एवं वासना युक्त बना ले, तो उसमें आत्मपदार्थ दिखाई नहीं पडेगा। उसे अंतर्मुखी, निश्चल तथा वासना रहित बना लें, तो आत्मपदार्थ दिखाई देगा। भगवान का दर्शन होगा। (भगवान के दर्शन का अर्थ है — भगवान की अनुभूति)।

"उत्क्रामन्तः. . . . . ." कहने से स्पष्ट होता है कि आत्मा, जीव के रूप में इसी शरीर में खाते, पीते और एक शरीर को प्राप्त कर रहा है। अतः मुमुक्षुओं को भगवान के दर्शन के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। यहाँ बताया गया कि ज्ञाननेत्र से जीव उस आत्मा को देख सकते हैं। इसलिए हर जीव का प्रथम कर्तव्य आत्मा को जानना है।

"पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः" - कहने से स्पष्ट होता है कि ज्ञाननेत्र के पाते ही जीव को भगवान का दर्शन अवश्य होगा। वह ज्ञाननेत्र न हो, तो जीवन व्यर्थ होगा।

प्रश्न – आत्मा को कौन देख सकता है ? कौन देख नहीं सकता ?

उत्तर – ज्ञाननेत्रवाला देख सकता है। अज्ञानी देख नहीं सकता।

११. यतन्तो योगिनश्चैनं पशयन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

शब्दार्थ – यतन्तः = प्रयत्न करनेवाले। योगिनः = योगी। आत्मनि = अपने में। अवस्थितम् = स्थित। एनम् = इस आत्मा को। पश्यन्ति = देखते हैं। यतन्तः अपि च = प्रयत्न करनेवाले भी। अकृतात्मानः = अशुद्ध चित्त। अचेतसः = अविवेकी, एनम् = इस आत्मा को। न पश्यन्ति = नहीं देख पाते।

भावार्थ – यत्न करनेवाले योगीजन अपने हृदय में स्थित इस आत्मा को तत्त्व से जानते हैं, किंतु जिन्होंने अपने अन्तःकरण को शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहने पर भी इस आत्मा को नहीं जानते।

व्याख्या – इस श्लोक में बताया गया कि यद्यपि अनेकों लोग भगवान का भजन करते हैं, परन्तु उनमें से कुछ सफल होते हैं और कुछ विफल होते हैं। इसका कारण क्या है ? शुद्धचित्त से जो यत्न करते हैं, वे सफलता प्राप्त करते हैं, अर्थात् परमात्मा को अपने में प्राप्त करते हैं। परन्तु ध्यान करने पर भी मलिनचित्तवाले विफल होते हैं। वे परमात्मा को पा नहीं सकते। कुछ लोग विद्वान होकर भी हृदय पवित्र न होने के कारण विफल होते हैं। कुछ वेषधारी एवं ढोंगी होने के कारण विफल होते हैं। इस श्लोक में यह बात बतायी गयी है। खेत को ठीक ठाक कर, हल से जोतकर पानी एवं आवश्यक खाद देकर उसे उपजाऊ बनाने के बाद, उसमें बीज बोवें तो उसमें फसल होती है। ऐसा न करें या क्षेत्र ऊसर हो, तो फसल नहीं होती। परमात्मा की प्राप्ति या आत्म साक्षात्कार की भी यही बात है। आत्म साक्षात्कार या भगवान के दर्शन के लिए दो विषय आवश्यक हैं। (१) प्रयत्न (२) शुद्धचित्त। ये दोनों विशेषताएं जिसमें होती हैं वह भगवान के दर्शन कर सकता है। "यतन्तः" कहने से स्पष्ट होता है कि

पारमार्थिक क्षेत्र में प्रयत्न की बडी आवश्यकता है। उस प्रयत्न के लिए शुद्धचित्त सहायक बने, तो वह और प्रकाशित होगा।

यहाँ "अचेतनः" कहा गया। उसका अर्थ केवल मूढ, अज्ञानी एवं नास्तिक नहीं है। क्योंकि इस तरह प्रयत्न करनेवालों में भगवान को पाने की अभिलाषा रहती है। नहीं तो वे भगवान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न ही नहीं करते। पर वे वक्रमार्ग पर चलकर प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोग अनुभवी साधु पुरुषों के सांगत्य में रहकर सत्यमार्ग पा सकते हैं। भगवान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना अच्छा है, परन्तु उसके लिए परिशुद्ध चित्त भी सहायक बने, तो प्रयत्न सफल होगा। मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे साधना की पद्धति एवं साधना के रहस्यों की जानकारी भगवान के द्वारा बताये गये ऐसे वचनों, सद्ग्रन्थों तथा महापुरुषों के सांगत्य के द्वारा ज्ञात करें और सक्रम रीति से भगवान का ध्यान व स्मरण कर अपना जीवन सार्थक बनावें।

प्रश्न – परमात्मा कहाँ है ?

उत्तर – परमात्मा अपने में ही हैं।

प्रश्न – उन्हें कौन देख सकता है ?

उत्तर – चित्तशुद्धिवाला, ध्यान आदि करनेवाला देख सकता है।

प्रश्न – कौन देख नहीं सकते ?

उत्तर – जिनका चित्त शुद्ध नहीं होता, पर प्रयत्न करते हैं, वे परमात्मा को देख नहीं सकते।

प्रश्न – भगवान के दर्शन के लिए किन बातों की आवश्यकता है ?

उत्तर – (१) प्रयत्न (२) चित्तशुद्धि इन दोनों की आवश्यकता है।

१२. यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

शब्दार्थ – आदित्यगतम् = सूर्य में स्थित। यत् तेजः = जो तेज। अखिलम् = समस्त। जगत् = जगत् को। भासयते = प्रकाशित करता है। चन्द्रमसि = चन्द्र में। यत् (तेजः+अस्ति) = जो तेज है। अग्नौ च = अग्नि में। यत् (तेजः+अस्ति) = जो तेज है। तत् = वह। तेजः = तेज। मामकम् = मेरा। विद्धि = जानो।

भावार्थ – सूर्य में स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में है और जो अग्नि में है, उसको तू मेरा ही तेज जान।

व्याख्या – भगवान बताते हैं कि सूर्य आदि में जो तेज है, जो सारे संसार को प्रकाशवान बनाता है, वैसे ही चन्द्र में जो तेज है, अग्नि में जो तेज है, वह सारा मेरा ही है।" यह बात अच्छी तरह जान लो। संसार में अनेक पदार्थ हैं। पर उनमें दूसरी वस्तु को प्रकाशित करने की शक्ति नहीं है। सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि में ही वैसी शक्ति है। वे खुद प्रकाशित होते हैं और दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं। इस श्लोक में बताया गया कि सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि का वह तेज स्वयं भगवान की ही विभूति है। इस अवसर पर याद रखना चाहिए कि सूर्य, चन्द्र और अग्नि भगवान को प्रकाशित नहीं कर सकते। परन्तु भगवान उन्हें प्रकाशित कर सकते हैं।

प्रश्न – सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि का तेज कैसा है ?

उत्तर – परमात्मा से सम्बन्धित है। दैव से सम्बन्धित है।

१३. गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥

शब्दार्थ – च = और। अहम् = मैं। गाम् = भूमि में। आविश्य = प्रवेश कर। ओजसा = ओज से। भूतानि = प्राणियों को। धारयामि = धारण करता हूँ। रसात्मकः = रसस्वरूप। सोमः = चन्द्र। भूत्वा = होकर। सर्वाः = समस्त। ओषधीः = वनस्पतियों को। पुष्णामि = पुष्ट करता हूँ।

भावार्थ – और मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण

करता हूँ और सस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियों को अर्थात् वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ।

व्याख्या - "धारयामि ओजसा" - इससे स्पष्ट होता है कि जगत् के समस्त पदार्थों तथा प्राणियों को शक्ति, सामर्थ्य एवं बल देनेवाले परमात्मा ही हैं। उपर्युक्त वाक्य से स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण केवल वसुदेव का पुत्र ही नहीं, अपितु विश्वव्यापी और जगत् के भर्ता भी हैं। भगवान ने यह भी कहा कि सस्य की वृद्धि करनेवाला मैं ही हूँ। इससे स्पष्ट होता है कि लोगों का खाद्यपदार्थ उत्पन्न करनेवाले स्वयं भगवान ही हैं। अतः भोजन करते समय सभी लोगों को चाहिए कि वे अन्नदाता भगवान का स्मरण करें, उनका ध्यान करें। पहले भगवान को अन्न समर्पित करें, बाद को वे खावें। सस्य का पोषण भगवान न करें, तो लोगों को खाना नहीं मिलेगा। सूर्य, चन्द्र और अग्नि को वे प्रकाश न दें, तो सारा संसार अन्धकारमय बन जाएगा। इस प्रकार कई प्रकार से जगत् का भरण पोषण तथा उद्धार करनेवाले भगवान के प्रति जीवों को कृतज्ञ रहना चाहिए। सभी कालों में उनका स्मरण एवं भजन करते रहना चाहिए।

प्रश्न - भगवान किस किस तरह जनता की भलाई कर रहे हैं ?

उत्तर - (१) भूमि में प्रवेश कर जल के द्वारा जनता का हित कर रहे हैं। (२) चन्द्र बनकर सस्य का पोषण कर रहे हैं।

प्रश्न - जीव को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - परमात्मा का कृतज्ञ बनकर रहना चाहिए। स्मरण, ध्यान एवं भजन करते हुए परमात्मा को भजना चाहिए।

१४. अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

शब्दार्थ - अहम् = मैं। वैश्वानरः = वैश्वानर (जठराग्नि)। भूत्वा = होकर। प्राणिनाम् = प्राणियों के। देहम् = शरीर का। आश्रितः = आश्रित होकर।

प्राणापानसमायुक्तः = प्राण अपान वायुयों से युक्त। चतुर्विधम् = चार प्रकार के। अन्नम् = अन्न को। पचामि = पचाता हूँ।

भावार्थ – मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित रहनेवाला प्राण और अपान से संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

व्याख्या – पिछले श्लोक में भगवानने बताया कि सस्य का पोषण कर जीवों के आहार का सृजन मैं ही क्रर रहा हूँ। इस श्लोक में वे बताते हैं कि उस अन्न को जीवों के शरीर में मैं ही पचाता हूँ। शरीर, आहार से बनता है। वह आहार जठराग्नि के द्वारा जीर्ण न हो, तो रक्त आदि के रूप में शरीर में व्याप्त नहीं हो सकता। अतः जठराग्नि का स्थान शरीर में काफी महत्त्वपूर्ण है। भगवान ने कहा कि मैं ही जठराग्नि बनकर शरीर में स्थित हूँ। इससे स्पष्ट है कि शरीर का निर्माता एवं शरीर का पोषक स्वयं भगवान ही हैं। ऐसे महान् उपकारी का दिया अन्न खाते हुए उसे उन्हें समर्पित न करें, स्वयं उसका उपभोग करें, तो इससे बढकर कृतघ्न और कौन हो सकता हैं? भगवानने तीसरे अध्याय के बारहवें श्लोक में कहा कि ऐसा व्यक्ति चोर है। (योभुङ्क्ते स्तेन एव सः)। इसीलिए भोजन के पूर्व भगवान को नैवेद्य समर्पित करने का आचार अमल में आया। दैव को समर्पित किये बिना तथा दैवी भावना के बिना जो आहार खाया जाता है, वह अपवित्र होता है। अतः भोजन के पूर्व आहार का थोडा भाग भगवान को चढाना चाहिए। या उसका थोडा भाग भूत कोटि को खिलाकर भगवद्भावना से खाना चाहिए। तब वह भोजनक्रिया, यज्ञ बन जाएगी। वह खाद्य पदार्थ अमृत बन जाएगा। "प्राणिनां देहमाश्रितः" – इससे स्पष्ट होता है कि भगवान अति समीप देह में ही बसे है। अतः पवित्रमार्ग का हर जीव को अनुसरण करना चाहिए।

"पचामन्नं चतुर्विधं" – बताया गया कि भगवान जीवों के शरीर में जठराग्नि के रूप में बसे हैं। वे चार प्रकार के आहार पदार्थों को पचा रहे हैं। (१) भक्ष्य - दांतों से काटकर खाये जानेवाले पदार्थ जैसे पकवान तथा तरकारी आदि। (२) भोज्य - जीभ से चबाकर खाये जानेवाले पदार्थ - जैसे - अन्न

आदि। (३) लेह्य - जीभ से चखकर खाये जानेवाले पदार्थजैसे चटनियां आदि। (४) चोष्य - मुंह से आवाज के साथ चूसकर खाये जानेवाले पदार्थ जैसे खीर, रसम,मट्ठा आदि। ये खाद्यपदार्थ स्वयं भगवान ही पचा रहे हैं, तो आहार के बारे में मनुष्य को बहुत सतर्क रहना चाहिए। आहार के बारे में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए।

(१) अत्यधिक खाकर जीर्ण करानेवाले भगवान को श्रम नहीं देना चाहिए।

(२) सात्विक आहार ही खाना चाहिए। राजस् एवं तामस आहार छोड देना चाहिए।

सात्विक, राजस एवं तामस आहार के बारे में गीता के १७ वें अध्याय के ८,९एवं १०वें श्लोकों में बताया गया। वह विवरण निम्न प्रकार है।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय-ऐसे आहार, अर्थात् भोजन करने के पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ (१७-९)

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ (१७-१०)

बहुत पहले पकाया गया, रसहीन, ठंडी, बासी, जूठा, निषिद्ध आहार तामसियों को प्रिय होते हैं।

(३) खाने के पूर्व आहार भगवान को भक्ति से चढाना चाहिए।

(४) वह आहार न्याय के अनुसार अर्जित होना चाहिए। अधर्म मार्ग पर चलकर अर्जित पंच भक्ष्य परमान्न से, न्याय से अर्जित रूखा सूखा श्रेष्ठ है।

भगवान हर जीव के उदर में रहकर सब कुछ देखता रहता है। अतः आहार के बारे में लोगों को बहुत सतर्क रहना चाहिए।

इस प्रकार गीता के इस अध्याय में आहार के बारे में विशेष रूप से बताया गया। इसलिए भोजन के पूर्व गीता के इस पन्द्रहवें अध्याय के पाठ की विधि अमल में आ गयी है। अनेक आश्रमों, मठों तथा घरों में इस अध्याय का पाठ सामूहिक या व्यक्तिगत रूप से करके इसके बाद लोग भोजन करते हैं। इस प्रकार भगवान के स्मरण तथा ध्यान के बाद जो खाना खाया जाता है, वह स्वयं भगवान को ही समर्पित माना जा सकता है। इसके अलावा दैव के ध्यान के बाद खाने से दैवी भावना जीव के अणु अणु में व्याप्त होती है।

भोजन करने के पहले १५वें अध्याय का पाठ सामूहिक या व्यक्तिगत रूप से करके, बाद हाथ में थोडा सा जल तीर्थ के रूप में लेना चाहिए। गीता के चौथे अध्याय के "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" वाले २४वें श्लोक का पाठ भक्ति से करके उस जल को खाद्यपदार्थ पर छिडक कर, बाद उसे खाना चाहिए।

प्रश्न – परमात्मा जीवों के शरीर में किस प्रकार विद्यमान हैं ?

उत्तर – जठराग्नि के रूप में विद्यमान हैं।

प्रश्न – शरीर में रहकर क्या करते हैं ?

उत्तर – प्राण अपान वायुओं के साथ लोग जो खाना खाते हैं, उसे पचाते हैं।

प्रश्न – लोगों को क्या करना चाहिए ?

उत्तर – अपने ही शरीर में स्थित उस परमात्मा का ध्यान करते हुए, भोजन के

पहले उसका भाग परमात्मा को भक्ति से समर्पित कर, दैवी भावना से उस पदार्थ को खाना चाहिए।

१५. सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

शब्दार्थ - अहम् = मैः। सर्वस्य च = समस्त प्राणियों के। हृदि = हृदय में। संनिविष्टः = स्थित हूँ। मत्तः = मुझसे। स्मृतिः = स्मृति। ज्ञानम् = ज्ञान। आ पोहनं च = आ पोहन। (भवन्ति = होते हैं)। सर्वैः = समस्त। वेदैः च = वेदों से वेधः = जानने योग्य। अहम् एव = मैं ही हूँ। वेदान्तकृत् = वेदांतो का निर्माता। वेदवित् एव च = वेद जाननेवाला। अहम् एव = मैं ही हूँ।

भावार्थ - मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामीरूप से स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदों द्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्त का कर्ता और वेदों को जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

व्याख्या - "सर्वस्य" कहा गया। अतः जात-पांत, वर्ग-वर्ण के भेद पर ध्यान दिये बगैर हर जीव पवित्र आचरण के द्वारा अपने ही शरीर में स्थित भगवान को जान सकता है। महापापी भी अपने पीछे अवलंबन बने ब्रह्मरूप को ध्यान में रखकर निजरूप का चिन्तन करे, तो वह पुण्यात्मा बन कर तर सकता है।

ऐसा मौका भगवान श्रीकृष्णने गीता में सब को प्रदान किया। लहर छोटी हो या बडी, उसके पीछे महान् समुंदर ही विद्यमान है। इसी प्रकार छोटी या बडी लहर रूपी जीव समुँदर रूपी परमात्मा को जान ले, तो काफी है।

"सर्वस्य" शब्द के द्वारा भगवान बताते हैं कि उस भगवान पर सब का जन्मसिद्ध अधिकार है। हृदि (हृदय में) कहने से स्पष्ट है कि भगवान हर जीव के अति समीप उसके हृदय में ही है। अतः जीव को पाप कर्म न करके पुण्य कर्म करना चाहिए।

'स्मृति, ज्ञान एवं विस्मृति'' सब मन के विविध रूप हैं। परमात्मा मन का आधार है। अतः कहा गया कि वे उन्हीं से प्राप्त होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि स्थूल एवं सूक्ष्म सभी बातें उसे मालूम होती हैं। अतः हर जीव को चाहिए कि वह अपने दिल और दिमाग को पवित्र एवं शुद्ध रखे, उसमें मलिनता को स्थान न दे।

यद्यपि वेदों में अनेक देवी देवताओं का उल्लेख है, तथापि जानने योग्य परमात्मा एक ही हैं। ब्रह्मा विष्णु महेश्वर उसी परमात्मा के विभिन्न रूप हैं। जगत् में एक ही लक्ष्य है, एक ही ध्येय है, एक ही ज्ञेय है। वही सच्चिदानन्द परब्रह्म है। ''वेदान्तकृत्'' कहा गया। अर्थात् वेदों का सृजन करनेवाला स्वयं परमात्मा ही है। मानव नहीं है। यह बात यहाँ स्पष्ट बतायी गयी है। अतः वेदों में जो सत्य बताये गये, उन्हें भगवान के वचन मानकर उन्हें अमल में लाना चाहिए। वे दैव के द्वारा निर्मित हैं। अतः उन पर अखण्ड विश्वास करना चाहिए। संसार में गुरुपरंपरा कहते समय पहले ''नारायणं पद्मभुवं . . . .'' कहकर उस परमात्मा का ही, श्रीमन्नारायण का ही नाम लिया जाता है।

प्रश्न – भगवान कहाँ हैं ?

उत्तर – सब के हृदय में बसे हैं।

प्रश्न – स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति किनसे होते हैं ?

उत्तर – उस परमात्मा से ही होते हैं।

प्रश्न – वेदों के द्वारा कौन बताये जाते हैं ? वेदांत के सिरजनहारा कौन हैं ? वेदों को भली भांति जाननेवाले कौन हैं ?

उत्तर – परमात्मा ही हैं।

१६. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

शब्दार्थ - लोके = संसार में। क्षरः च = क्षर। अक्षरः एव च = अक्षर। द्वौ इमौ पुरुषौ (स्तः) = ये दो पुरुष हैं। सर्वाणि भूतानि = संपूर्ण भूत प्राणियों के शरीर। क्षरः = क्षर। (उच्यन्ते = कहे जाते हैं) कूटस्थः = कूटस्थ जीव। अक्षरः = अक्षर। उच्यते = कहा जाता है।

भावार्थ - इस संसार में नाशवान् और अविनाशी भी, ये दो प्रकार के पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियों के शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है।

व्याख्या - क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष, पुरुषोत्तम नामक तीन तरह के पुरुषों के बारे में कहने को उद्यत होकर भगवान पहले क्षर एवं अक्षर पुरुषों के बारे में इस श्लोक में कहते हैं। नश्वर देह आदि सभी दृश्य पदार्थ अर्थात् चराचर जीवों की सब उपाधियाँ क्षर पुरुष हैं। आत्मचैतन्य के प्रतिबिंबरूप जीव अक्षरपुरुष हैं। क्षर देहों के साथ तुलना कर देखें, तो मोक्ष प्राप्ति तक अनेक जन्मों तक अविनाशी होने के कारण जीव अक्षर व कूटस्थ माना जाता है। लेकिन इस अक्षर को आठवें अध्याय में बताये गये अक्षर परब्रह्म नहीं समझना चाहिए।

कूटस्थ को कूटस्थ चिदात्मा नहीं समझना चाहिए। क्योंकि उन दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। एक बिंब है, तो दूसरा प्रतिबिंब है। अर्थात् जीव है। इन दोनों क्षराक्षरों के अलावा अलग स्थित उत्तम पुरुष के बारे में भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

प्रश्न - इस संसार में पुरुष कितने हैं ? कौन कौन हैं ?

उत्तर - दो हैं (१) क्षर (२) अक्षर।

प्रश्न - उनमें क्षर पुरुष कौन है ?

उत्तर - समस्त प्राणियों के देह आदि उपाधियां क्षर पुरुष हैं।

प्रश्न – अक्षर पुरुष कौन है ?

उत्तर – कूटस्थ जीव अक्षर पुरुष है।

सम्बन्ध – इस प्रकार क्षर और अक्षर पुरुष का स्वरूप बतलाकर अब उन दोनों से श्रेष्ठ पुरुषोत्तम भगवान् के स्वरूप का और पुरुषोत्तम होने के कारण का वर्णन श्लोकों में करते हैं –

१७. उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

शब्दार्थ – यः = जो। लोकत्रयम् = तीनों लोकों में। आविश्य = प्रवेश कर। विभर्ति = धारण करता है। अव्ययः = नाशरहित। ईश्वरः = जगन्नियामक। अन्य। उत्तम पुरुषः = उत्तम पुरुष। परमात्मेति = परमात्मा। उदाहृतः = कहा गया।

भावार्थ – इन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सब का धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा-इस प्रकार कहा गया है।

व्याख्या – जीव त्रिगुणात्मक है। परमात्मा त्रिगुणरहित हैं। गुणातीत हैं। इस कारण परमात्मा बाकी क्षर और अक्षर पुरुषों से उत्तम माने जाते हैं। उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम कहलाते हैं।

संसार में कुछ लोग देह स्थिति में रहते हैं, तो कुछ लोग जीव स्थिति में रहते हैं। वे दोनों सामान्य पुरुष हैं। आत्मा में स्थित रहनेवाला ही उत्तम पुरुष है। उत्तम पुरुष बनने का प्रयत्न जीव को करना चाहिए। हमेशा पुरुष (जीव) की स्थिति में रहना, अर्थात् बिद्ध जीवन बितना विज्ञ पुरुष का लक्षण नहीं है। क्रमशः देह स्थिति तथा जीव स्थिति पारकर साक्षीभूत आत्मा की स्थिति अर्थात् पुरुषोत्तम की स्थिति में पहुँचनेवाला ही सर्वश्रेष्ठ है। वही स्थिति जीवन का परम लक्ष्य है। इससे जन्म सार्थक बनता है।

"अन्यः" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि परमात्मा देह तथा जीव से अलग है। साक्षी के रूप में विद्यमान हैं। इसलिए जीव को समझना चाहिए कि जीव सम्बन्धी विकार वास्तव में उसमें नहीं हैं। निर्विकार अव्यय आत्मा है। इस निश्चय पर आकर उसे सदा आत्मस्थिति में रहने का अभ्यास करना चाहिए।

जीव जब समझ जाएगा कि परमात्मा कैसे है, उनकी महिमा कैसी है, तो उन पर विश्वास करेगा। यहाँ परमात्मा की दो विशेषताएँ बतायी गयी हैं। वे (१) सर्वलोक धारक हैं। (२) अव्यय हैं। परमात्मा तीनों लोकों में आसानी से प्रवेश कर, अन्तर्यामी बनकर सब को धारण कर ईश्वर बने हुए हैं। वे अविनाशी हैं। अतः ऐसे अव्यय आत्मपद के लिए तथा पुरुषोत्तम स्थिति के लिए सब को प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न - क्षर और अक्षर से क्या कोई अन्य पुरुष भी है ?

उत्तर - हाँ है। वह उत्तम पुरुष है। (पुरुषोत्तम)

प्रश्न - फल क्या है ?

उत्तर - क्षर (देह) तथा अक्षर (जीव) की स्थिति को पारकर पुरुषोत्तम की भावना या परमात्मा की भावना को अपनाना चाहिए।

१८. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

शब्दार्थ - यस्मात् = जिस कारण से। अहम् = मैं। क्षरम् = क्षरस्वरूप से। अतीतः = अतीत हूँ। अक्षरात् अपि = अक्षरस्वरूप से। उत्तमः च = श्रेष्ठ हूँ। अतः उस कारण से। लोके = संसार में। वेदे च = वेद में भी। पुरुषोत्तमः = पुरुषोत्तम। प्रथितः = प्रसिद्ध। अस्मि = हूँ।

भावार्थ - क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग-क्षेत्र से तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिये लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

व्याख्या - क्षर और अक्षर दोनों से श्रेष्ठ होने के कारण परमात्मा पुरुषोत्तम कहलाए। जीव को अपने पुरुषत्व से तृप्त न होकर पुरुषोत्तमत्व के लिए अर्थात् आत्मस्थिति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। तभी वह कृतार्थ होते हुए भव के बन्धनों से मुक्त होकर साक्षात् भगवान की तरह संसार में पूजा जा सकेगा।

प्रश्न - भगवान पुरुषोत्तम क्यों कहलाए ?

उत्तर - वह क्षर और अक्षर पुरुषों से अतीत हैं। इसलिए पुरुषोत्तम कहलाए।

१९. यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

शब्दार्थ - भारत = हे अर्जुन। यः = जो। असम्मूढः = अज्ञान रहित होकर। एवम् = इस प्रकार। माम् = मुझे। पुरुषोत्तम = पुरुषोत्तम के रूप में। जानाति = जानता है। सः = वह। सर्ववित् = समस्त जानता हुआ। सर्व भावेन = संपूर्ण मन से। माम् = मुझे। भजति = भजता है।

भावार्थ - हे भारत !जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्व से पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वर को ही भजता है।

व्याख्या - भगवान के प्रति भक्ति तभी होगी, जब कि मालूम हो कि वे कैसे हैं ? किसी भी वस्तु की महिमा का पता जब लगेगा, तब उस वस्तु के प्रति प्रीति पैदा होगी। इसलिए भगवान के प्रति अकुंठित भक्ति होनी चाहिए। साधक को मालूम होना चाहिए कि वह शाश्वत है, आनन्द स्वरूप हैं। क्षराक्षर से परे हैं।

यह बात इस श्लोक में बतायी गयी है। भगवानने यहाँ बताया कि जो लोग अज्ञान दूर कर मुझे पुरुषोत्तम और क्षराक्षर के परे जानेंगे, वे पूर्ण भाव से मुझे भजेंगे।

"असंमूढ" - इसका मतलब है दृश्यवस्तु को शाश्वत समझने की मूढता से रहित एवं आत्मा को ही शाश्वत समझने की भावना से युक्त साधक। "स सर्ववित्" - संसार में लोग चाहे जितनी भी विद्याएं सीखें, जितना भी पांडित्य हासिल करें, पर वे सर्वज्ञ नहीं बन सकते। वे ही संसार में सर्वज्ञ बन सकते हैं, जो परमात्मा को समझते हैं। चूंकि समस्त ब्रह्मांड, समस्त विद्याएं, शास्त्र तथा कलाएं भगवान की कुक्षि में होते हैं, अतः उस भगवान को जान लें तो जानना चाहिए कि वे सब कुछ समझ गए। इसीलिए "स सर्ववित्" याने सर्वज्ञ कहा गया।

"सर्वभावेन" - इस प्रकार भगवान के यथार्थ स्वरूप को जो जानता है, वह भगवान के प्रति अचंचल भक्तिभावना से उन्हींको भजता है। जो दृश्यवस्तुओं को नश्वर समझता है, वह शाश्वत आत्म वस्तु का ही सेवन करता है। "सर्व भावेन" कहने का मतलब है कि वह पूर्ण मन से उनको भजेगा। वह पूर्ण भाव "दैव का यथार्थ तत्व" जाने बिना पैदा नहीं होगा। अतः सब से पहले परमात्मा का विभव तथा उनका वास्तविक स्वरूप अच्छी तरह जानना चाहिए। पूर्ण भक्ति तथा अचंचल विश्वास के साथ भगवान का सेवन करना चाहिए। भक्ति एवं भावना को विभाजित नहीं करना चाहिए। सांसारिक वस्तुओं पर थोडी और भगवान पर थोडी भक्ति बांट दें, तो वह सेवन पूर्ण नहीं हो सकता। आरंभ में वह संभव न हो, तोभी अभ्यास करके कभी न कभी पूर्ण भक्ति भाव से हृदय को भर लेना चाहिए।

प्रश्न - पूर्ण मन से भगवान का सेवन कौन करेंगे ?

उत्तर – जो मनुष्य अज्ञान से छूटकर भगवान को क्षराक्षर पुरुष से अतीत पुरुषोत्तम जानेगा, वह पूर्ण मन से भगवान का सेवन करेगा। उनका ध्यान करेगा।

प्रश्न – भगवान को किस प्रकार भजना चाहिए ?

उत्तर – अचंचल भक्ति एवं पूर्ण मन से भगवान को भजना चाहिए।

सम्बन्ध – इस प्रकार भगवान् को पुरुषोत्तम जाननेवाले पुरुष की महिमा का वर्णन करके अब इस अध्याय में वर्णित विषय को गुह्यतम बतलाकर उसे जानने के फल का वर्णन करते हुए इस अध्याय का उपसंहार करते हैं -

२०. इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।

शब्दार्थ – अनघ = पाप रहित हे अर्जुन। इति = इस प्रकार। गुह्यतमम् = अत्यन्त गोपनीय। इदम् = यह। शास्त्रम् = शास्त्र। मया = मुझसे। उक्तम् = कहा गया। भारत = हे अर्जुन। एतत् = इसे। बुध्वा = जानकर। (मनुष्य)। बुद्धिमान् = ज्ञानी। कृतकृत्यः च = कृतकृत्य। स्यात् = होता है।

भावार्थ – हे निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया इसको तत्त्व से जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है।

व्याख्या – अब तक बताये गये गीताशास्त्र को जो अच्छी तरह जान चुके, उनको मिलनेवाले सत्फलों का स्पष्टीकरण इस श्लोक में किया गया। भगवानने कहा कि अब तक उन्होंने जो कुछ कहा, वह अत्यन्त गोपनीय है। 'गुह्यतमम् है। गुह्यम् या गुह्यतरम् न कहकर गुह्यतमम् कहकर भगवानने उसकी रहस्यमयता का परिचय कराया। आम तौर पर अति गोपनीय बातें महापुरुष दूसरों से नहीं कहते। योग्य अधिकार रखनेवाले से ही कहते हैं। संभव है कि लोग पूछ बैठें

कि क्या अर्जुन इसके लिए योग्य हैं ? उनका चित्त इतना शुद्ध है ? इसीलिए अर्जुन को 'अनघ' कहकर भगवानने संबोधित किया। शंकालुओं का सन्देह दूर किया। अर्जुन पापरहित निर्मलचित्त तथा आध्यात्मिक ज्ञान के श्रवण एवं ग्रहण के योग्य अधिकारी हैं। अर्जुन की तरह कोई भी साधक निर्मलचित्त एवं पापरहित होकर भगवान के ध्यान में लीन हो तो सर्वेश्वर किसी न किसी महात्मा के द्वारा ब्रह्मतत्व का बोध उसे अवश्य कराएंगे। या स्वयं ही आध्यात्मिक ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति उसे प्रदान करेंगे। प्रश्न उठता है कि इसका फल क्या मिलेगा ? भगवानने कहा कि दो फल मिलेंगे।

(१) साधक ज्ञानवान (२) कृतकृत्य होगा। इस बोध से मनुष्य भगवान का अनन्यभक्त बनेगा, उसके द्वारा बुद्धियोग अर्थात् ज्ञानानुभव प्राप्त करेगा। संसार के किसी दूसरे कार्य से मनुष्य कृतार्थ नहीं बन सकेगा। अकेली ब्रह्म विद्या और आत्मज्ञान से वह कृतकृत्य बन सकेगा।" यह बात भगवान ने यहाँ स्पष्ट कह दी। भगवान के वचन पर विश्वास कर गीता में बताये सभी रहस्यों को भली भांति जानना चाहिए। कृतकृत्य होना चाहिए। नहीं तो अनर्थ होगा। दुःख जाल पीछा नहीं छोडेगा।

प्रश्न – भगवान का बताया आध्यात्मिक शास्त्र कैसा है ?

उत्तर – अति गोपनीय है।

प्रश्न – उसे अर्जुन को ही क्यों बताया ?

उत्तर – अर्जुन पाप रहित थे। इसलिए उन्हें बताया।

प्रश्न – इस बोध से फल क्या मिलेगा ?

उत्तर – मनुष्य ज्ञानवान बनेगा। कृतकृत्य होगा।

प्रश्न – ज्ञानवान एवं कृतकृत्य होने का उपाय क्या है ?

उत्तर - भगवान के बताये इस पारमार्थिक रहस्य को आचरण में लाना ही एकमात्र उपाय है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥

यह उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मविद्या, योग शास्त्र, श्रीकृष्णार्जुन संवाद रूपी श्री भगवद्गीता के पुरुषोत्तम प्राप्ति योग शीर्षक पन्द्रहवाँ अध्याय है।

- ॐ तत् सत् -

ॐ

श्री भगवद्गीता

अथ षोडशोऽध्यायः

सोलहवाँ अध्याय

देवासुर संपद्विभाग योगः

देवासुर संपद्विभाग योग

इस अध्याय का शीर्षक

"दैवासुर संपद्विभाग योग" - संपदा का मतलब है - ऐश्वर्य। दैवीसंपदा का मतलब है- दैवी सद्गुणों की संपत्ति। देव सम्बन्धी गुणों की राशि। जीव को भगवान के पास पहुँचानेवाली शील संपत्ति। असुर संपदा का मतलब है- राक्षसगुणों का समूह। दुर्गुणों की राशि। भगवान को दूर करनेवाले दुर्गुणों का समूह। इस अध्याय में भगवान श्रीकृष्णने दैवी गुण तथा आसुरीगुण दोनों के बारे में विस्तार से बताया। इससे साधक का बडा उपकार हुआ। हर जीव सुर और असुर सम्बन्धी गुणों के बारे में भली भांति जानकर अपने हृदय को टटोलकर देख लेगा कि मेरे हृदय में दैवी गुणों की भरमार है या आसुरी गुणों की। फिर उसे आसुरी गुणों को निकालकर दैवी गुणों से हृदय को भरने का मौका मिलेगा। इस तरह आध्यात्मिक क्षेत्र में सभी लोगों की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर भगवान श्रीकृष्णने सद्गुण एवं दुर्गुण और सुर व असुर संपदाओं को विभाजित कर उनका विस्तार से वर्णन किया। अतः इस अध्याय का शीर्षक दैवासुर संपद्विभाग योग रखा गया।

इस अध्याय के मुख्य विषय

१. दैवी संपदा (दैविक गुणों की संपदा) (श्लोक १ से श्लोक ३ तक)।

२. आसुरी संपदा (असुर गुणों की संपदा) (श्लोक ४)।

३. इन दोनों के फल (श्लोक ५)।

४. आसुरी संपदावालों के लक्षण एवं उन्हें प्राप्त होनेवाली अधोगति। (श्लोक ६ से श्लोक २० तक)।

५. नरक के द्वार (श्लोक २१)।

६. शास्त्र विरोधी आचरण त्यागकर शास्त्र के अनुकूल आचरण के ग्रहण के बारे में उद्बोध - (श्लोक २२ से श्लोक २४ तक)।

सम्बन्ध – सातवें अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक में तथा नवें अध्याय के ग्यारहवें और बारहवें श्लोकों में भगवान्‌ने कहा था कि 'आसुरी और राक्षसी प्रकृतिको धारण करनेवाले मूढ मेरा भजन नहीं करते, वरन् मेरा तिरस्कार करते हैं।' तथा नवें अध्याय के तेरहवें और चौदहवें श्लोकों में कहा कि 'दैवी प्रकृतिसे युक्त महात्माजन मुझे सब भूतों का आदि और अविनाशी समझकर अनन्य प्रेम के साथ सब प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं।' परन्तु दूसरा प्रसङ्ग चलते रहने के कारण वहाँ दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृति के लक्षणों का वर्णन नहीं किया जा सका। फिर पंद्रहवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में भगवान्‌ने कहा कि 'जो ज्ञानी महात्मा मुझे 'पुरुषोत्तम' जानते हैं, वे सब प्रकार से मेरा भजन करते हैं।' इस पर स्वाभाविक ही भगवान् को पुरुषोत्तम जानकर सर्वभावसे उनका भजन करनेवाले दैवी प्रकृतियुक्त महात्मा पुरुषों के और उनका भजन न करनेवाले आसुरी प्रकृतियुक्त अज्ञानी मनुष्यों के क्या-क्या लक्षण हैं ? – यह जानने की इच्छा होती है। अतएव अब भगवान् दोनों के लक्षण और स्वभाव का विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिये उद्यत होते हैं। आरंभ में दैवी गुणों की संपत्ति का स्पष्टीकरण करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

१. अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दान दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥

२. अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥

३. तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले। भारत = हे अर्जुन। अभयम् = निर्भयता। सत्व संशुद्धिः = अंतःकरण की शुद्धि। ज्ञानयोग व्यवस्थितिः = ज्ञानयोग में स्थित रहना। दानम् = दान। दमः च = बाह्येन्द्रियों का निग्रह। यज्ञः च = (ज्ञान) यज्ञ। स्वाध्यायः = (वेद शास्त्रों का) अध्ययन। तपः = तप। अर्जवम् = ऋजुता। अहिंसा = अहिंसा। सत्यम् = सत्य। अक्रोधः=क्रोध रहित रहना। त्यागः = त्याग बुद्धि का होना। शांति = शांति स्वभाव। अपैशुनम् = चुगली न खाना। दया भूतेषु = भूतों पर दया व करुणा। अलोलत्वम् = विषय लोलुपता से दूर रहना। तेजः = तेज। क्षमा = सहन करने की शक्ति। धृतिः = धैर्य। शौचम् = शुचिता। अद्रोहः = किसी के साथ द्रोह न करना। नातिभानिता = स्वातिशय का न होना। दैवीम् = दैव सम्बन्धी। संपदम् = संपत्तिं में ।.अभिजातस्य = पैदा होनेवाले में। भवन्ति = होते हैं।

भावार्थ - श्रीभगवान् बोले - भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञान के लिये ध्यानयोग में निरन्तर दृढ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनों की पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण एवं वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालन के लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियों सहित अन्तःकरण की सरलता।

मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवाले पर भी क्रोध का न होना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, अन्तःकरण की उपरति अर्थात् चित्त की चञ्चलता का अभाव, किसी की भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियों में हेतुरहित न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र के विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव।

तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर की शुद्धि एवं किसी में भी शत्रुभाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव-ये सब तो हे अर्जुन ! देवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं।

व्याख्या - भगवद्गीता में साधना को विशेष महत्व दिया गया। यदि चित्त निर्मल रहे, तो पारमार्थिक लक्ष्य समीप रहेगा। इसलिए चित्तशुद्धि के अनेक अंश गीता में बताये गये हैं। इस अध्याय के आरंभ में दैवी संपदा का जो विवरण दिया गया, वह उन्हींके अन्तर्गत है। यहाँ भगवानने छब्बीस सुगुणों का उल्लेख किया। इन सद्गुणों को मुमुक्षु हृदयंगम कर आचरण में ला सके, तो मोक्ष की प्राप्ति निश्चित है।

संपदा का मतलब है धन। ऐश्वर्य। दैवी संपदा का मतलब है- दैवीधन। भगवान श्रीकृष्णने दैवी धन लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर कहा है कि हे जीव ! नश्वर संसार में क्रीडा करते हुए उसी में अपना अमूल्य समय मत गवाँओ। दुःख एवं जन्म परंपरा में मत पडो। यह लो, दैवी संपदा एवं पारमार्थिक रत्न समूह। "इस दैवी संपदा के सामने सांसारिक नश्वर संपदा व्यर्थ है। अतः साधकों को चाहिए कि वे दैवी संपदा को हस्तगत कर ज्ञान के धनी बनें और ब्रह्म सायुज्य पावें।

"अभयम्" - सभी सुगुणों का मुकुट है-निर्भयता। भगवानने सब सुगुणों में निर्भयंता को प्रधानता दी। इसके कारण निम्न प्रकार हैं -

१) सब दुर्गुणों का प्रधान कारण भय है। पहले उसे निकाल दूर कर सकें, तो बाकी सब सद्गुण अपने आप हृदय में समीकृत हो जाएंगे। अतः विज्ञ पुरुषों को चाहिए कि पहले अपने हृदय से भय को निकाल बाहर कर दें।

२) रस्सी खींचने की स्पर्धा में महान बलशाली को पहला स्थान दिया जाता है। इसी प्रकार असुरगुणों के विरुद्ध छिडे युद्ध में दैवी गुणों के नेता के रूप में "अभय" रूपी बलशाली को भगवानने पहले खडा किया।

३) उपनिषदों में "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" अर्थात् निर्भयता को ब्रह्मपद कहा। गीता में भगवान श्रीकृष्णने निर्भयता को प्रमुख स्थान दिया।

अतः साधकों का कर्तव्य है कि वे निर्भयता का अभ्यास करें और देवीसंपदा की प्राप्ति के योग्य बनें।

"सत्व संशुद्धिः" - "शुद्धिः" न कहकर "संशुद्धि" कहा गया। मतलब है, चित्त को शुद्ध रखना चाहिए। निर्मल दर्पण में ही प्रतिबिंब अच्छी तरह दिखाई देता है। उसी प्रकार निर्मल चित्त में ही आत्मा अच्छी तरह प्रतिबिंबित होता है।

"ज्ञानयोग व्यवस्थितिः" - यद्यपि भगवानने गीता में कई योगों का वर्णन किया, तथापि ज्ञानयोग को उन्होंने बडा महत्व दिया। "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" कहा। अर्थात् सभी कर्म, सभी योग अन्त में ज्ञान में ही समाते हैं। इसलिए भगवान आदेश देते हैं कि साधक ज्ञानयोग में दृढता हासिल करें।

"दानं" - "भूदान, संपत्तिदान, अन्नदान, बलदान, श्रमदान, विद्यादान तथा ज्ञानदान" ये सब दानों के अन्तर्गत ही आते हैं। "दमश्च" - 'सत्व संशुद्धिः" शब्द के द्वारा पहले ही "शम" नामक अन्तरेन्द्रिय के निग्रह का उल्लेख किया गया। यहाँ "दम" नामक बाह्येन्द्रिय के निग्रह का बिवरण

दिया गया। स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इन्द्रिय निग्रह के बिना आध्यात्मिक क्षेत्र में एक कदम आगे बढ नहीं सकते। इसीलिए गीता में "शम एवं दम" [illegible] समुचित स्थान दिया गया।

"यज्ञश्च" - यहाँ यज्ञ का मतलब तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ लेना चाहिए। "स्वाध्यायः" - गीता, उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र, योग वासिष्ठ, भारत, भागवत, रामायण इत्यादि आध्यात्मिक उद्ग्रन्थों का पठन कर उनके सार का मनन करना स्वाध्याय कहा जाता है।

"तपः" - तप का मतलब सिर नीचे और पैर ऊपर रखकर खडा होना नहीं है। गीता के १७वें अध्याय में जो कहा गया, उसके अनुसार शारीरिक, मानसिक तथा वाचिक तप हैं।

"आर्जवम्" - शरीर, वाक्, मन नामक तीनों से समान बरतना, अर्थात् त्रिकरण शुद्धि से रहना है। विषैले जीव जैसे सांप आदि वक्रगति के होते हैं। इसलिए वक्रगतिवाले मनुष्य भी विषैले जीवों के बराबर हैं।

"अहिंसा" - शरीर, वाक् तथा मन के द्वारा किसी प्राणी पर हिंसा न करना, किसी भी प्राणी को न सताना अहिंसा है।

"सत्य" - (१) शरीर, मन तथा वाक् से असत्य न बोलना। (२) सत्यवस्तु परमात्मा में स्थिर होकर रहना।

"अक्रोधः" क्रोध बहुत बुरी चीज है। वह हर मनुष्य को हानि पहुँचाता है। जब आदमी क्रोध के वश में होता है, तब वह शराबी जैसा हो जाता है। तब उसे उचित अनुचित का ज्ञान नहीं रहता। सुध-बुध खो जाता है। क्रोध की धृष्टता के बारे में गीता में पहले ही भगवानने बता दिया। क्रोध रजोगुण से सम्बन्धित दुर्गुण है। जब आदमी क्रोधित हौता है, तब उसकी आंखें लाल होती हैं। सारे शरीर में पसीना निकलता है। एक तरह से मनुष्य राक्षस सा बन जाता है। अतः

परमार्थ की दृष्टि से क्रोध राहित्य अत्यावश्यक है। इसीलिए क्रोध राहित्य दैवी संपत्ति माना गया है।

"त्यागः" - उपनिषदों में कहा गया कि त्याग से ही मोक्ष मिलता है। विषयवासनाएँ छोड देना ही त्याग है। दुर्गुणों, दुष्ट संस्कारों, विषय वासनाओं तथा कर्मफलों को त्यागना ही वास्तव में त्याग है। आंतरिक त्याग बाह्यत्याग से श्रेष्ठ है।

"शांतिः" - चित्त को शांत रहना चाहिए। कल्लोलित समुंदर की तरह नहीं रहना चाहिए। पूर्ण शांति परमात्मा में लीन होने पर ही प्राप्त होती है। शांति के बिना सुख नहीं मिलता। (अशांतस्य कुतः सुखम्)। भगवान का आश्रय तथा दृश्य विषयिक संकल्पों का विसर्जन शांति के साधन हैं।

'अपैशुनम्" - चुगली न खाना, दूसरों के दुर्गुणों पर ध्यान न देना, दूसरों के सद्गुणों पर ही ध्यान देना, अपने करोडों दोषों को दूर करना साधक के लिए आवश्यक है।

"दया भूतेषु" - 'समस्त जीव राशि पर दया करना' साधक के लिए आवश्यक है। इसीलिए गीता में कई बार भूतदया का उल्लेख किया गया। भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के साथ साथ भूतदया का भी अभ्यास साधकों को करना चाहिए।

"अलोलत्वम्" - इन्द्रिय लोलुपता का न होना, विषयों की चपलता से दूर रहना, 'अलोलत्वम्' है। सारी शक्ति विषय भोगों में व्यर्थ हो जाय तो आत्म चिन्तन में असमर्थ बन जाती है। अतः इन्द्रियों को वश में करके उन्हें आत्मा में स्थित करना चाहिए। मन को अचंचल रखना चाहिए।

"मार्दवम्" - बातों तथा कामों में कठोरता न होना, मृदु बने रहना और सात्विक गुणों से संपन्न व्यक्ति के लक्षण हैं।

“ह्रीः” - (लज्जा)-

१. पाप कार्य करने में लज्जित होना चाहिए।

२. अपने आपसे प्रश्न कर लेना चाहिए कि अब तक मैंने पारमार्थिक क्षेत्र में कितनी उन्नति की ? अगर उन्नति न की, तो लज्जित होना चाहिए।

३. महात्मा, अनुभवी एवं साधु संतो एवं भक्तों को देखकर अपनी सांसारिक अवनति पर ध्यान देकर लज्जित होना चाहिए। उनकी तरह पारमार्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

“अचापलम्” - चंचलता रजोगुण का लक्षण है। उसे दूर करना चाहिए। मन को आत्मा से विचलित नहीं होने देना चाहिए।

“तेजः” - ब्रह्मतेज से विलसित होना चाहिए।

“क्षमा” - क्षमता, सहनशक्ति तथा द्वंद्वों में निर्विकार बनकर पृथ्वी तथा फल वृक्ष की तरह क्षमाशील रहना चाहिए। शुक एवं ईसा आदि की क्षमाशीलता का स्मरण करते रहना चाहिए।

“धृतिः” - धैर्य धारण कर आत्मा का चिन्तन, और संसार के मिथ्यात्व का मनन करते रहें, तो मनुष्य का हृदय धैर्य से भर जाएगा। बडी बडी बाधओं में भी मनुष्य मेरु पर्वत की तरह गंभीर बना रह सकेगा।

“शौचम्” - (१) बाह्य शौच (शरीर एवं गृह आदि की शुद्धता) (२) आंतरिक शौच (इन्द्रिय एवं मन की शुद्धता)

“अद्रोहः” - किसी के साथ द्रोह न करना, किसी को न सताना, मन में भी द्रोह का चिंतन न करना।

“नाति मानता” - अपने को बडा मानकर दंभ नहीं करना चाहिए। दूसरों का आदर करना चाहिए। साधकों के लिए यह अत्यंत आवश्यक गुण है।

आंजनेयजी की विनम्रता और उनकी निरभिमानिता साधकों के लिए अनुकरणीय हैं। ये छब्बीस सद्गुण जो दैवी संपत्ति में जन्म लेते हैं, उन्हें प्राप्त होते हैं। मोक्ष की प्राप्ति के लिए इन सद्गुणों की आवश्यकता है।

प्रश्न - भगवान श्रीकृष्णने कितने दैवी गुणों का उल्लेख किया ? वे क्या क्या हैं ?

उत्तर - भगवान श्रीकृष्णने २६ सद्गुणों का उल्लेख किया। वे निम्न प्रकार हैं।

(१) निर्भयता (२) चित्तशुद्धि (३) ज्ञानयोग की स्थिति (४) दान (५) बाह्येन्द्रियों का निग्रह (६) (ज्ञान) यज्ञ (७) शास्त्रों का अध्ययन (८) (ज्ञान) तप (९) ऋजुता (१०) अहिंसा (११) सत्य (१२) क्रोध राहित्य (१३) त्याग (१४) शांति (१५) चुगली न खाना (१६) भूतदया (१७) विषय लोलुपता का न होना (१८) मृदुता (१९) लज्जा (२०) चपलता का न होना(२१) प्रतिभा (२२) सहनशक्ति (२३) धैर्य (२४) शुचिता (२५) द्रोह बुद्धि का न होना (२६) अभिमान का न होना।

सम्बन्ध - इस प्रकार धारण करनेके योग्य दैवीसम्पत् से युक्त पुरुष के लक्षणोंका वर्णन करके अब त्याग करने योग्य आसुरीसम्पत् से युक्त पुरुष के लक्षण संक्षेप में कहे जाते हैं -

४. दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन। दम्भः = दंभ। दर्पः = घमंड। अभिमानः च = अभिमान। क्रोधः = क्रोध। पारुष्यम् एव च = परुषता। अज्ञानम् च = अविवेक। आसुरीम = आसुरी। संपदम् = संपत्ति में। आभिजातस्य = उत्पन्न हुए को (भवन्ति = होते हैं)

भावार्थ - हे पार्थ ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान - ये सब आसुरी-सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं।

व्याख्या - भक्ति प्रवर एवं ईश्वर निष्ठ लोग जिस प्रकार पहले बताये गये सद्गुणों को महान् संपत्ति मानते हैं, उसी प्रकार असुर एवं दुष्ट लोग इस श्लोक में बताये गये दुर्गुणों को बडी संपत्ति मानकर खुश होते हैं। इसीलिए उसका नाम आसुरी संपत्ति पडा। वास्तव में वे दुर्गुण दरिद्रता के अंतर्गत आते हैं। पहले २६ सद्गुणों का उल्लेख किया गया। अब छे दुर्गुणों का उल्लेख किया गया। जब साधक शत्रुओं से युद्ध करने निकलता है, तब इसे स्वपक्ष एवं विपक्ष दोनों से अच्छी तरह परिचित होना चाहिए। तभी वह शत्रुओं का संहार कर सकता है। भगवान श्रीकृष्णने वही काम किया। पहले सद्गुणरूपी स्वपक्ष का परिचय दिया, जिस प्रकार घर को साफ रखने के लिए उसमें जमी धूल, गन्दगी, कूडा कर्कट आदि को निकालना पडता है और अगरबत्ती जलाकर उसे सुगंधित करना पडता है और पीने के पानी का प्रबंध वगैरह करना पडता है, उसी प्रकार शरीर को शुद्ध रखना हो, तो उसके अन्दर जमे मलमूत्र वगैरह को बाहर निकाल कर, स्वादिष्ट एवं पुष्टिकर आहार लेकर मन को दुष्ट संकल्पों से मुक्त करना पडता है। अर्थात् आसुरी संपत्ति को दूर कर दैवी संपत्ति को अपनाना चाहिए।

दुर्गुणों में पहलें 'दंभ' के बारे में बताया गया। किसी भी क्षेत्र में दंभ, कपट तथा धोखाधडी का बोलबाला ज्यादा समय तक टिक नहीं सकता। ढोंगी कुछ दिनों तक अपने कपट वेश से संसार को धोखा दे सकते हैं। परन्तु भगवान को धोखा नहीं दे सकते। हृदय में रहकर उनका रहस्य भगवान जान जाते हैं। अतः दंभ नामक दुर्गुण को जड से काटकर फेंक देना चाहिए। धन, अधिकार या पद मिले, तो परमात्मा की कृपा माननी चाहिए। घमंड नहीं करना चाहिए। क्रोध को त्यागना चाहिए। दैवी गुणों में अक्रोध और आसुरी गुणों में क्रोध का उल्लेख किया गया। इस पर साधकों को ध्यान देना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में क्रोध राहित्य का कितना बडा महत्त्व है। साधक को कटु वचन नहीं बोलना चाहिए। मृदुस्वभाव को स्वीकारना चाहिए।

प्रश्न - आसुरीगुण कितने बताये गये ? वे क्या हैं ?

उत्तर – छः बताये गए। वे निम्न प्रकार हैं - (१) दंभ (२) गर्व (३) अभिमान (४) क्रोध (५) कठोरता (६) अविवेक।

प्रश्न – इन दुर्गुणों को क्या करना चाहिए ?

उत्तर – निकाल बाहर कर देना चाहिए।

सम्बन्ध – इस प्रकार दैवी-सम्पत् और आसुरी-सम्पत् से युक्त पुरुषोंके लक्षणों का वर्णन करके अब भगवान् दोनों सम्पदाओं का फल बतलाते हुए अर्जुन को दैवी-सम्पदा से युक्त बतलाकर आश्वासन देते हैं -

५. दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं देवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

शब्दार्थ – दैवी = दैविक। विमोक्षाय = पूर्ण बंध निवृत्ति के लिए। आसुरी = आसुरी सम्पदा। निबन्धाय = अतिशय बंध के लिए। मता =मानी गयीं। पाण्डव = हे अर्जुन। (त्वम् = तुम)। दैवीम् = दैव सम्बन्धी। संपदम् = संपत्ति में। आभिजातः = उत्पन्न। अपि = हो। मा शुचः = दुःख मत करो।

भावार्थ – दैवी - सम्पदा मुक्ति के लिये और आसुरी - सम्पदा बाँधने के लिये मानी गयी है। इसलिये हे अर्जुन ! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी-सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुआ है।

व्याख्या – अब तक दैवी एवं आसुरी संपत्ति का विवरण बताकर अब उनके फलों का स्पष्टीकरण भगवान करते हैं। फलों के बारे में मालूम हो, तो उन्हें स्वीकारने व त्यागने में सुविधा होगी। यह स्पष्ट बताया गया कि दैवीगुण सांसारिक बन्धनों से जीव को मुक्ति दिलाते हैं, पर आसुरी गुण भव बन्धनों में जीव को जकड देते हैं। इसलिए लोग खुद ही निर्णय कर सकते हैं कि किसे त्यागना है और किसे स्वीकारना है। क्या पीडा एवं दुःख की कामना कोई करेगा? बेडियों में क्या कोई बंधना चाहेगा ? नहीं। अतः फलों के बारे में कहा गया कि सद्गुणों का फल मोक्ष है और दुर्गुणों का फल बन्धन है। विज्ञ पुरुषों का

कर्तव्य है कि वे मोक्ष को स्वीकार करें और बन्धन को ठुकरा दें। कई जन्मों से जो दुःख भोग रहे हैं , विषयवासनाओं में पडकर कई जन्म ले रहे हैं, उन्हें चाहिए कि दैवी संपत्ति को अपनावें और मोक्ष प्राप्त करें। आसुरी संपत्ति से दूर रहें।

भगवानने कहा कि "अर्जुन दैवी संपत्ति में पैदा हुए। वे सद्गुणों की खान हैं।" इसीलिए स्वयं भगवान के मुंह से बोधामृत पान करने का सौभाग्य उन्होंने प्राप्त किया।

"माशुचः" कहा गया। यही गीता का सन्देश है। वही गीता का आदेश भी है। भगवान श्रीकृष्णने कहा कि हे अर्जुन ! तुम दैवी संपत्ति में पैदा हुए हो। इसलिए दुःख मत करो।" इससे स्पष्ट होता है कि दुःख राहित्य का कारण दैवी संपत्ति ही है, सच्चरित्र एवं निर्मल हृदय उसके हेतु हैं। इस वाक्य से यह भी ध्वनित होता है कि आसुरी संपत्ति दुःख का कारण है और आसुरी संपत्तिवालों को शोक करना पडता है। अतः दुःख राहित्य तथा आनन्द की प्राप्ति जो चाहते हैं, उनको दैवी संपत्ति स्वीकार कर आसुरी संपत्ति को त्याग देना चाहिए।

यहाँ "मोक्षाय" न कहकर "विमोक्षाय" एवं 'बन्धाय' न कहकर 'निबन्धाय' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि दैवी संपत्तिवाला भलीभांति विमुक्त है, आसुरी संपत्तिवाला पूर्णरूप से बद्ध है।

प्रश्न - दैवी संपत्ति का फल क्या है ?

उत्तर - मोक्ष एवं बन्ध मुक्ति उसके फल हैं।

प्रश्न - आसुरी संपत्ति का फल क्या है ?

उत्तर - आसुरी संपत्ति का फल बन्ध है।

प्रश्न - इससे मोक्ष का फल क्या निर्धारित होता है ?

उत्तर - दैवी संपत्ति का अभ्यास अच्छी तरह कर उसे प्राप्त करना ही मुक्ति का मार्ग है।

प्रश्न – बन्ध किससे प्राप्त होता है ?

उत्तर – आसुरी गुणों के कारण बन्ध प्राप्त होता है।

प्रश्न – अर्जुन किस संपत्ति में पैदा हुए ?

उत्तर – अर्जुन दैवी संपत्ति में पैदा हुए।

प्रश्न – संसार में दुःखों से कौन मुक्त हो सकता है ?

उत्तर – दैवी संपत्तिवाला दुःखों से मुक्त हो सकता है।

६. **द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।**
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु ॥

शब्दार्थ - पार्थ - है अर्जुन ! अस्मिन लोके = इस लोक में। दैवः = दैव सम्बन्धी गुणवाला। असुरः एव च = असुर सम्बन्धी गुणवाला। द्वै = दो प्रकार के। भूत सर्गौ = प्राण समुदाय। (स्तः = हैं)। दैवः = दैव सम्बन्धी। विस्तरशः = विस्तार से। प्रोक्त = बताया गया। असुरम् = असुर सम्बन्धी। मे = मुझसे। श्रुणु =सुनो।

भावार्थ – है अर्जुन ! इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्य समुदाय दो ही प्रकार का है, एक तो दैवी प्रकृतिवाला और दूसारा आसुरी प्रकृतिवाला। उनमें से दैवी प्रकृतिवाले के बारे में तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य समुदाय के बारे में भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन।

व्याख्या – इस श्लोक से ज्ञात होता है कि इस लोक में मनुष्य समुदाय दो प्रकार का है। (१) दैवी संपत्तिवाला (२) आसुरी संपत्तिवाला। बाकी सब जातियां बाद को ही बनी हैं। इसलिए हर मनुष्य को चाहिए कि वह अपने गुणों की तहकीकात कर निश्चय कर ले कि वह किस जाति का है। अगर वह आसुरी जाति का है, तो उसे उन गुणों को तिलांजलि देकर दैवी गुणों को अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके द्वारा उसे मोक्ष पाना चाहिए।

सम्बन्ध - इस प्रकार आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदाय के लक्षण सुनने के लिये अर्जुनको सावधान करके अब भगवान् उनका वर्णन करते हैं -

७. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥

शब्दार्थ - आसुराः = आसुरीस्वभावाले । जनाः = लोग । प्रवृत्तिं च = धर्म प्रवृत्ति । निवृत्तिं च =अधर्म से निवृत्ति । न विदुः = नहीं जानते । तेषु = उनमें । शोचम्= शुचिता । न विद्यते = नहीं होती । आचारः च = आचार भी । न = नहीं होता । सत्यम् अपि = सत्य भी । न = नहीं होता ।

भावार्थ - हे अर्जुन ! आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्य कार्य में प्रवृत्त होनेको और अकर्तव्यकार्य से निवृत्त होनेको भी नहीं जानते हैं, इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषा ही है ।

व्याख्या - आसुरी स्वभाववाले धर्मकार्य करना तथा अधर्मकार्यों से विमुख होना नहीं जानते । कहने पर नहीं मानते । वे अधम हैं । कहने पर अपनी भूल चूक ठीक करनेवाले मध्यम हैं । गलती बिलकुल न करनेवाले उत्तम हैं । इस श्लोक में अधमों के बारे में कहा गया है । यहाँ प्रवृत्ति एवं निवृत्ति नामक दो प्रवृत्तियाँ बतायी गयी हैं । प्रवृत्ति का मतलब है कि करने योग्य,निवृत्ति का मतलब है छोडने योग्य । विज्ञ को चाहिए कि वह इन दोनों को अच्छी तरह जान ले । अर्थात् साधकों को चाहिए कि वह दैव सम्बन्धी कार्य तथा दैवीगुण आदि स्वीकारने योग्य वस्तुओं के बारे में और अधर्म कार्य तथा आसुरी गुण आदि त्याज्य वस्तुओं के बारे में भलीभांति जानकारी हासिल करे । यहाँ बताया गया कि आसुरी स्वभाववाले धर्म प्रवृत्ति को नहीं जानते ।

प्रश्न - आसुरी स्वभाववालों के कुछ लक्षण बताओ ?

उत्तर - (१) वे धर्मप्रवृत्ति तथा पाप निवृत्ति के बारे में नहीं जानते ।

(२) शुचिता, आचार तथा सत्य उन में नहीं होते।

सम्बन्ध - आसुरी स्वभाववालों में विवेक, शौच और सदाचार आदि का अभाव बतलाकर अब उनके नास्तिक भाव का वर्णन करते हैं -

८. **असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।**
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥

शब्दार्थ - ते = वे। जगत् = जगत् को। असत्यम् = असत्य। अप्रतिष्ठम् = प्रतिष्ठा रहित। कामहैतुकम् = काम ही कारणवाला। अपरस्पर सम्भूतम् = स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न न होकर। अन्यत् = और एक। किम् = क्या हैं ?। आहुः = कहते हैं।

भावार्थ - वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहा करते हैं कि जगत् आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वर के, अपने-आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न है, अतएव केवल काम ही इसका कारण है। इसके सिवा और क्या है ?

व्याख्या - आसुरी संपत्तिवाले नहीं मानते कि यह जगत् वेदों के आधार पर स्थित है। धर्म की व्यवस्था पर निर्भर है। भगवान से सृजित है। वे कहते हैं कि स्त्री एवं पुरुष के संयोग से इस जगत् का सृजन होता है। यह उनकी स्थूल दृष्टि है। इसलिए उन्हें यही बात ज्ञात होती है। जिनकी आंखों पर पर्दा पडा रहता है, वे पास या दूर की कोई वस्तु देख नहीं पाते। इसी प्रकार अज्ञानी जीव सत्य को देख नहीं पाता और समझ नहीं पाता।

प्रश्न - आसुरी स्वभाववालों के कुछ और लक्षण बताओ ?

उत्तर - (१) वे कहते हैं कि यह जगत् वेदों के आधार पर नहीं बना है, धर्म पर निर्भर नहीं है, ईश्वर के द्वारा सृजित नहीं है। (२) वे कहते हैं कि जगत् का आधार केवल काम है। स्त्री पुरुष के संयोग से ही जगत् का सृजन होता है।

सम्बन्ध - ऐसे नास्तिक सिद्धान्त के माननेवालों के स्वभाव और आचरण कैसे होते हैं ? इस जिज्ञासा पर अब भगवान् अगले चार श्लोकों में उनके लक्षणों का वर्णन करते हैं -

९. **एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।**
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।।

शब्दार्थ - (ते =वे आसुरी संपत्तिवाले)। एताम् दृष्टिम् =इस(नास्तिक) दृष्टि का। मवष्टभ्य = अवलंबन कर। नष्टात्मानः = नष्ट स्वभाववाले। अल्पबुद्धयः = अल्प बुद्धिवाले। उग्रकर्माणः = क्रूर कर्म करनेवाले। अहिताः= अपकार करनेवाले। जगतः = जगत् के। क्षयाय =नाश के लिए। प्रभावन्ति = पैदा होते हैं।

भावार्थ - इस मिथ्या ज्ञान का अवलम्बन करके, जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत् के नाश के लिये ही समर्थ होते हैं।

व्याख्या - "नष्टात्मनः" कहने से स्पष्ट होता है कि नास्तिक दृष्टि एवं काम भाववालों का मन अवश्य नष्ट होता है। उनकी बुद्धि अल्प होती है। विशाल नहीं होती। अतः नास्तिक एवं काम दृष्टि त्याज्य हैं। ऐसी भावनावाले नास्तिक एवं कामुक प्रवृत्ति के समर्थक अपने को श्रेष्ठ मानकर घमंड करते हैं। वे भगवान एवं बडों की दृष्टि में अल्पबुद्धिवाले ही हैं।

"क्षयाय जगत्:" - उनका जन्म जगत् के नाश के लिए है, उद्धार के लिए नहीं है। अन्य प्राणियों पर हिंसा करना ही उनका काम है, उनका हित करना नहीं। वे लोक कंटक हैं, लोक हितैषी नहीं हैं। वे कबंध हैं, लोक बन्धु नहीं हैं। सारांश यह कि वे भूमि के लिए भार रूप हैं।

प्रश्न - आसुरी स्वभाववालों के लक्षण कुछ और बताओ ?

उत्तर - वे (१) नास्तिक दृष्टि का अवलंबन कर मन को नष्ट करते हैं।

(२) अल्पबुद्धिवाले होते हैं। (३) क्रूर कर्म करते हैं। (४) लोक कंटक बनते हैं। (५) जगत् के नाश के लिए ही जन्म लेते हैं।

१०. काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।।

शब्दार्थ - दुष्पूरम = पूर्ण न होनेवाली। कामम् = कामप्रवृत्ति का। आश्रित्य = आश्रय लेकर। दम्भमानमदान्विताः = दम्भ, मान और मद से युक्त होकर। मोहात् = अविवेक से। असद्ग्राहान् = असत्पुरुषों से अयोग्य विषय। गृहीत्वा = अवलंबन कर। अशुचिव्रताः =अपवित्र व्रती होकर। प्रवर्तन्ते = विचरते हैं।

भावार्थ - वे दम्भ, मान और मद से युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण होनेवाली कामनाओं का आश्रय लेकर, अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणों को धारण करके संसार में विचरते हैं।

व्याख्या - "दुष्पूरम" - काम ऐसी प्रवृत्ति है, जो जितना भी भोग करे, तृप्त नहीं होती। तीसरे अध्याय में इसके बारे में कहा गया कि "दुष्पूरेणानलेन च"। ऐसे दुष्पूरक काम का आश्रयलेनेवाले असफल होकर अशांति के पात्र बनते हैं।

"दम्भमानमदान्विता" - दंभ, मान तथा मद इनमें से एक के भी होने से जीव का नाश होता है। ऐसी हालत में जिनमें ये तीनों गुण होते हैं उनकी दुर्गति का वर्णन करना मुश्किल है। प्रश्न उठता है कि वे ऐसा क्यों रहते हैं ? इसका कारण है मोह, अविवेक, अज्ञान की मस्ती, उसमें पडकर वे कुकर्म करते हैं। जो कार्य नहीं करना चाहिए, उन्हें करते हैं।

"अशुचिव्रताः" - वे निंद्य एवं अपवित्र कार्य मद्यपान तथा मांस भक्षण आदि करते रहते हैं। ऐसे दुष्कर्म करने का व्रत लेते हैं। व्रत लेना तो ठीक है, मगर पवित्र कार्य करने का ही व्रत लेना चाहिए। तभी सत्फल मिलेगा। अतः

उन्हें कुमार्ग त्यागकर शुद्धव्रतों का ही अनुष्ठान करना चाहिए। अशुद्ध व्रतों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए।

प्रश्न – काम कैसा है ?

उत्तर – दुष्पूरम है। पूरी नहीं की जा सकती।

प्रश्न – आसुरी संपत्तिवालों के कुछ और लक्षण बताओ।

उत्तर – वे (१) पूरी न होनेवाली काम प्रवृत्ति का आश्रय लेते हैं। (२) दंभ, मान एवं मद से युक्त होते हैं। (३) अविवेकी होते हैं। (४) बुरे हठ तथा अपवित्र व्रतों का अनुष्ठान करते हैं।

११. चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।।

१२. आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ।।

शब्दार्थ – च = और।अपरिमेयाम् = अपरिमित। प्रलयान्ताम् = मरणपर्यन्त न छोडनेवाली। चिन्ताम्=विषय वासनाओं को। उपाश्रिताः=आश्रयलेनेवाले। कामोंप भोगपरमाः = काम को भोगना ही परम प्रयोजनकर माननेवाले। एतावत् इति = कामभोग को परम पुरुषार्थ मानकर इससे श्रेष्ठ दूसरा नहीं ऐसा। निश्चिताः = निश्चय करनेवाले। कामक्रोध परायणा = काम, क्रोध का आश्रय लेनेवाले। काम भोगार्थम् = काम के भोग के लिए। अर्थ संचयान् = धन संचय करना। ईहन्ते = चाहते हैं।

भावार्थ- वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओं का आश्रय लेनेवाले, विषयभोगों के भोगने में तत्पर रहनेवाले और 'इतना ही सुख है' इस प्रकार माननेवाले होते हैं। वे आशा की सैकड़ों फाँसियों से बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोध के परायण होकर विषय-भोगों के लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थों को संग्रह करने की चेष्टा करते रहते हैं।

व्याख्या – ऐसे सांसारिक इच्छावालों की कामनाओं, चिंताओंतथा इच्छाओंका अन्त नहीं होता। मृत्युपर्यंत उनकी इच्छाएं बढती ही रहती हैं। उनकी पूर्ति नहीं होती। जिस प्रकार मुमुक्षुलोग भगवान को ही परम परुषार्थ, लक्ष्य स्थल मानकर चलते हैं, उसी प्रकार आसुरी प्रवृत्तिवाले काम तथा भोग विलास को ही परम पुरुषार्थ एवं लक्ष्य मानकर चलते हैं। ऐसे लोगों की इच्छाएं तथा वासनाएं कभी पूरी नहीं होतीं। उनकी यातनाओं का अन्दाजा लगाना भी मुश्लिक है। भोग विलास के लिए दुष्कर्म करते हैं, अपमार्गोंका अनुसरण करते हैं। "अर्थसंचयाम्" कहने से स्पष्ट होता है कि वे लोग धनके लिए नाना कुकर्म करते हैं। ये दो कुकर्म करते हैं (१) काम का आश्रय लेते हैं (२) अन्यायार्जन पर तुल-जाते हैं। अतः मुमुक्षुओं को ऐसे अल्पबुद्धिवालों का सांगत्य नहीं करना चाहिए।

प्रश्न – आसुरी संपत्तिवालों के कुछ और लक्षण बताओ।

उत्तर - (१) वे असीमित आशाओं से युक्त होते हैं। (२) इससे बढकर श्रेष्ठ किसी को नहीं मानते। (३) आशाओं, अभिलाषाओं से बद्ध होते हैं। (४) काम क्रोध के वशवर्ती होते हैं। (५) विषयवासनाओं की तृप्ति तथा भोग विलासों के लिए अधिक धन चाहते हैं। अपमार्गों पर चलकर धनार्जन के लिए कुकृत्य करते हैं।

१३. इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

१४. असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥

१५. आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥

सम्बन्ध - ऐसे नास्तिक सिद्धान्त के माननेवालों के स्वभाव और आचरण कैसे होते हैं ? इस जिज्ञासा पर अब भगवान् अगले चार श्लोकों में उनके लक्षणों का वर्णन करते हैं -

९. एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।।

शब्दार्थ - (ते =वे आसुरी संपत्तिवाले)। एताम् दृष्टिम् =इस(नास्तिक) दृष्टि का। मवष्टभ्य = अवलंबन कर। नष्टात्मानः = नष्ट स्वभाववाले। अल्पबुद्धयः = अल्प बुद्धिवाले। उग्रकर्माणः = क्रूर कर्म करनेवाले। अहिताः= अपकार करनेवाले। जगतः = जगत् के। क्षयाय =नाश के लिए। प्रभावन्ति = पैदा होते हैं।

भावार्थ - इस मिथ्या ज्ञान का अवलम्बन करके, जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत् के नाश के लिये ही समर्थ होते हैं।

व्याख्या - "नष्टात्मनः" कहने से स्पष्ट होता है कि नास्तिक दृष्टि एवं काम भाववालों का मन अवश्य नष्ट होता है। उनकी बुद्धि अल्प होती है। विशाल नहीं होती। अतः नास्तिक एवं काम दृष्टि त्याज्य हैं। ऐसी भावनावाले नास्तिक एवं कामुक प्रवृत्ति के समर्थक अपने को श्रेष्ठ मानकर घमंड करते हैं। वे भगवान एवं बडों की दृष्टि में अल्पबुद्धिवाले ही हैं।

"क्षयाय जगत:" - उनका जन्म जगत् के नाश के लिए है, उद्धार के लिए नहीं है। अन्य प्राणियों पर हिंसा करना ही उनका काम है, उनका हित करना नहीं। वे लोक कंटक हैं, लोक हितैषी नहीं हैं। वे कबंध हैं, लोक बन्धु नहीं हैं। सारांश यह कि वे भूमि के लिए भार रूप हैं।

प्रश्न - आसुरी स्वभाववालों के लक्षण कुछ और बताओ ?

उत्तर - वे (१) नास्तिक दृष्टि का अवलंबन कर मन को नष्ट करते हैं।

(२) अल्पबुद्धिवाले होते हैं। (३) क्रूर कर्म करते हैं। (४) लोक कंटक बनते हैं। (५) जगत् के नाश के लिए ही जन्म लेते हैं।

१०. काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥

शब्दार्थ - दुष्पूरम = पूर्ण न होनेवाली। कामम् = कामप्रवृत्ति का। आश्रित्य = आश्रय लेकर। दम्भमानमदान्विताः = दम्भ, मान और मद से युक्त होकर। मोहात् = अविवेक से। असद्ग्राहान् = असत्पुरुषों से अयोग्य विषय। गृहीत्वा = अवलंबन कर। अशुचिव्रताः =अपवित्र व्रती होकर। प्रवर्तन्ते = विचरते हैं।

भावार्थ - वे दम्भ, मान और मद से युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण होनेवाली कामनाओं का आश्रय लेकर, अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणों को धारण करके संसार में विचरते हैं।

व्याख्या - "दुष्पूरम" - काम ऐसी प्रवृत्ति है, जो जितना भी भोग करे, तृप्त नहीं होती। तीसरे अध्याय में इसके बारे में कहा गया कि "दुष्पूरेणानलेन च"। ऐसे दुष्पूरक काम का आश्रयलेनेवाले असफल होकर अशांति के पात्र बनते हैं।

"दम्भमानमदान्विता" - दंभ, मान तथा मद इनमें से एक के भी होने से जीव का नाश होता है। ऐसी हालत में जिनमें ये तीनों गुण होते हैं उनकी दुर्गति का वर्णन करना मुश्किल है। प्रश्न उठता है कि वे ऐसा क्यों रहते हैं ? इसका कारण है मोह, अविवेक, अज्ञान की मस्ती, उसमें पडकर वे कुकर्म करते हैं। जो कार्य नहीं करना चाहिए, उन्हें करते हैं।

"अशुचिव्रताः" - वे निंद्य एवं अपवित्र कार्य मद्यपान तथा मांस भक्षण आदि करते रहते हैं। ऐसे दुष्कर्म करने का व्रत लेते हैं। व्रत लेना तो ठीक है, मगर पवित्र कार्य करने का ही व्रत लेना चाहिए। तभी सत्फल मिलेगा। अतः

उन्हें कुमार्ग त्यागकर शुद्धव्रतों का ही अनुष्ठान करना चाहिए। अशुद्ध व्रतों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए।

प्रश्न – काम कैसा है ?

उत्तर – दुष्पूरम है। पूरी नहीं की जा सकती।

प्रश्न – आसुरी संपत्तिवालों के कुछ और लक्षण बताओ।

उत्तर – वे (१) पूरी न होनेवाली काम प्रवृत्ति का आश्रय लेते हैं। (२) दंभ, मान एवं मद से युक्त होते हैं। (३) अविवेकी होते हैं। (४) बुरे हठ तथा अपवित्र व्रतों का अनुष्ठान करते हैं।

११. चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥

१२. आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥

शब्दार्थ – च = और।अपरिमेयाम् = अपरिमित। प्रलयान्ताम् = मरणपर्यन्त न छोडनेवाली। चिन्ताम्=विषय वासनाओं को। उपाश्रिताः=आश्रयलेनेवाले। कामोप भोगपरमाः = काम को भोगना ही परम प्रयोजनकर माननेवाले। एतावत् इति = कामभोग को परम पुरुषार्थ मानकर इससे श्रेष्ठ दूसरा नहीं ऐसा। निश्चिताः = निश्चय करनेवाले। कामक्रोध परायणा = काम, क्रोध का आश्रय लेनेवाले। काम भोगार्थम् = काम के भोग के लिए। अर्थ संचयान् = धन संचय करना। ईहन्ते = चाहते हैं।

भावार्थ- वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओं का आश्रय लेनेवाले, विषयभोगों के भोगने में तत्पर रहनेवाले और 'इतना ही सुख है' इस प्रकार माननेवाले होते हैं। वे आशा की सैकड़ों फाँसियों से बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोध के परायण होकर विषय-भोगों के लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थों को संग्रह करने की चेष्टा करते रहते हैं।

व्याख्या – ऐसे सांसारिक इच्छावालों की कामनाओं, चिंताओंतथा इच्छाओंका अन्त नहीं होता। मृत्युपर्यंत उनकी इच्छाएं बढती ही रहती हैं। उनकी पूर्ति नहीं होती। जिस प्रकार मुमुक्षुलोग भगवान को ही परम परुषार्थ, लक्ष्य स्थल मानकर चलते हैं, उसी प्रकार आसुरी प्रवृत्तिवाले काम तथा भोग विलास को ही परम पुरुषार्थ एवं लक्ष्य मानकर चलते हैं। ऐसे लोगों की इच्छाएं तथा वासनाएं कभी पूरी नहीं होतीं। उनकी यातनाओं का अन्दाजा लगाना भी मुश्लिक है। भोग विलास के लिए दुष्कर्म करते हैं, अपमार्गोंका अनुसरण करते हैं। "अर्थसंचयाम्" कहने से स्पष्ट होता है कि वे लोग धनके लिए नाना कुकर्म करते हैं। ये दो कुकर्म करते हैं (१) काम का आश्रय लेते हैं (२) अन्यायार्जन पर तुल जाते हैं। अतः मुमुक्षुओं को ऐसे अल्पबुद्धिवालों का सांगत्य नहीं करना चाहिए।

प्रश्न – आसुरी संपत्तिवालों के कुछ और लक्षण बताओ।

उत्तर – (१) वे असीमित आशाओं से युक्त होते हैं। (२) इससे बढकर श्रेष्ठ किसी को नहीं मानते। (३) आशाओं, अभिलाषाओं से बद्ध होते हैं। (४) काम क्रोध के वशवर्ती होते हैं। (५) विषयवासनाओं की तृप्ति तथा भोग विलासों के लिए अधिक धन चाहते हैं। अपमार्गों पर चलकर धनार्जन के लिए कुकृत्य करते हैं।

१३. इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

१४. असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥

१५. आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥

१६. अनेकाचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

शब्दार्थ - इदम = यह । अद्य = अब । मया = मुझसे । लब्धम् = प्राप्त किया हुआ। इदं मनोरथम् =इस मनोरथ को। प्राप्स्ये = पा सकता हूँ। इदम् =यह। अस्ति = है। इमं धनम् अपि = यह धन भी । मे = मुझे । पुनः = फिर से । भविष्यति = हो सकेगा। असौ शत्रुः = यह शत्रु । मया = मुझसे । हतः = मारा गया । अपरान अपि च = अन्य शतृओं को भी । हनिष्ये = मार सकता हूँ । अहम् = मैं । ईश्वरः =प्रभु हूँ। अहं = मैं। भोगी = सब भोगों को भोगनेवाला । अहम् = मैं । सिद्धः = इच्छित कार्य करने में शक्तिशाली हूँ। बलवान = बलवान हूँ। सुखी =सुखी हूँ। आढ्यः = धनी हूँ। अभिजनवान्=उच्च वंश में जन्मा। अस्मि=हूँ। माया = मेरे। सदृशः = सदृश । अन्यः = और एक । कः = कौन । अस्ति = है ?। यक्ष्ये = यज्ञ करूंगा। दास्यामि = दान करूँगा। मोदिष्ये = आनन्द का अनुभव करूंगा । इति = इस प्रकार। अज्ञान विमोहिताः = अज्ञान से मोहित । अनेक चित्त विभ्रान्ताः = अनेक विध चंचल चित्तवाले। मोहजाल समावृताः=मोहजाल से खूब आवृत। काम भोगेषु = काम को भोगने में । प्रसक्ताः =ज्यादा आसक्त । अशुचौ = अपवित्र। नरके = नरक में। पतन्ति = गिरते हैं।

भावार्थ - वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथ को प्राप्त कर लूँगा । मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह हो जायगा।

वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूँगा तथा मैं ईश्वर और ऐश्वर्य को भोगनेवाला हूँ, मैं सब सिद्धियों से युक्त एवं बलवान् और सुखी हूँ।

मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है ?मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञान से

मोहित रहनेवाले तथा अनेक प्रकार से भ्रमित चित्तवाले मोहरूप जालसे समावृत और विषयभोगों में अत्यन्त आसक्त आसुरलोग महान् अपवित्र नरक में गिरते हैं।

व्याख्या - इन श्लोकों में भगवान श्रीकृष्णने आसुरी संपत्तिवालों के गुणों, लक्षणों तथा स्वभाव का स्पष्टीकरण किया। आसुरी संपत्तिवाले सांसारिक विषय वासनाओं में फंसकर उन्हींको शाश्वत मानकर जो वाक्य बोलते हैं, उनका विवरण यहाँ दिया गया। आसुरी संपत्तिवालों के दंभ, घमंड तथा अहंभाव का चित्रण भी इन श्लोकों में किया गया। इच्छाएं हमेशा बढती रहती हैं। कभी नहीं घटतीं। यहाँ बताया गया कि आसुरी संपत्तिवाले गर्व से कहते हैं कि मैं ही शूर वीर हूँ। मेरी बराबरी इस संसार मे कोई नहीं कर सकता। इसी भावना के अनुकूल उसके कर्म भी होते हैं। फलस्वरूप उसे अशांत और दुःखी होना पडता है। उसकी यातनाओं की कोई सीमा नहीं रहती। इन श्लोकों मे ऐसे लोगों के दुष्कर्मों तथा उनके फलों का चित्रण किया गया। नरक की प्राप्ति ही फल बताया गया। आसुरी संपत्तिवाले जो विषय सुख भोगते हैं, वे राजसी हैं न कि सात्विक। 'सक्ताः' न कहकर "प्रसक्ताः" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि वे विषय वासनाओं तथा भोग विलासों के प्रति आसक्त रहते हैं। "पतन्ति" शब्द के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि उनका पतन निश्चित है। इन श्लोकों से स्पष्ट होता है कि इस संसार में धन, संपत्ति, यश, पद तथा अधिकार आदि का कोई मूल्य नहीं है। मनुष्य के हृदय से जब तक अहंकार, दंभ आदि दुर्गुण नहीं मिटेंगे और उनका चित्त शुद्ध नहीं होगा, तब तक उनके चित्त में सच्ची शांति नहीं होगी।

प्रश्न - आसुरी संपत्तिवालों के बर्ताव पर और प्रकाश डालो।

उत्तर - आसुरी संपत्तिवाले दंभी एवं अहंकारी होते हैं। वे कहते रहते हैं कि यह इच्छा अब पूरी हुयी, वह इच्छा जल्दी ही पूरी होगी। अभी यह धन है, जल्दी ही वह धन मिलेगा। शत्रु को अभी मार डाला। जल्दी ही

उस शत्रु को भी मार डालूंगा। मैं प्रभु हूँ। मैं भोगी हूँ। मैं कार्यों में सफलता पाता हूँ। मैं शक्तिशाली हूँ। मैं धनवान हूँ। मैं उच्चकुल में जन्मा हूँ। आनन्द का अनुभव करता हूँ।" ऐसे लोगों का चित्त विकारों से ग्रसित होता है। मोह से जकडा रहता है।

प्रश्न – इन्हें कौन सी गति प्राप्त होती है ?

उत्तर – वे अपवित्र कर्म करते हैं। अतः उन्हें नरक की गति प्राप्त होगी।

१७. आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥

१८. अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

शब्दार्थ – आत्मसम्भाविताः = अपने आपको बडा माननेवाले। स्तब्धाः = घमंडी। धनमान मदान्विताः = धन के गर्व से मदमत्त। अहंकारम् =अहंकार। बलम् = बल। दर्पम् = गर्व। कामम् = काम। क्रोधं च = क्रोध भी। संश्रिताः = खूब आश्रित। आत्म परदेहेषु = अपने एवं दूसरों की देहों में। माम् = मुझसे। प्रद्विषन्तः = द्वेष करनेवाले। अभ्यसूयकाः=असूया करनेवाले। ते=वे। दम्भेन = दंभ से। अविधि पूर्वकम् = शास्त्र के विरुद्ध। नाम यज्ञैः = नाममात्र के यज्ञों से। यजन्ते = याग करते हैं।

भावार्थ – वे अपने आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मान के मदसे युक्त होकर केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा पाखण्ड से शास्त्रविधि रहित यजन करते हैं।

वे अहङ्कार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादि के परायण और दूसरों की निन्दा करनेवाले पुरुष अपने दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं।

व्याख्या – "आत्म संभाविताः" एवं "प्रद्विषन्तः" इन दो शब्दों का यहाँ

प्रयोग करके आत्मस्तुति एवं परनिन्दा नामक दो दोषों का स्पष्टीकरण किया गया। अल्पबुद्धिवाले अपनी तारीफ आप करते हैं, साथ साथ दूसरों की निन्दा करते हैं। भगवान की भी निन्दा करते हैं। उनसे द्वेष करते हैं। यह बात भूल जाते हैं कि समस्त जीवराशि में भगवान वास करते हैं। उनके वचनों एवं आदेशों का पालन नहीं करते। ढोंगी बनकर दिखाने के लिए यज्ञ याग आदि करते हैं। ये कार्य भक्ति एवं श्रद्धा से नहीं, केवल नाम पाने के लिए करते रहते हैं।

"मामात्म पर देहेषु" - भगवानने कहा कि अपनी एवं दूसरों की देहों में स्थित मुझसे द्वेष करनेवाले"। इससे स्पष्ट है कि घट घट में वह साईं वास करता है। कई लोग प्रश्न करते हैं कि भगवान कहां हैं ? उस प्रश्न का उत्तर यहाँ मिल गया है। इस वाक्य से ज्ञात होता है कि चराचर प्राणियों के शरीर में भगवान स्थित हैं। अविवेकी बनकर एक प्राणी दूसरे प्राणी से द्वेष करता है। इसका मतलब है कि वह दूसरे प्राणी में स्थित भगवान से ही द्वेष करता है। दूसरों का उपकार करें, तो वह परमात्मा की पूजा ही है।

प्रश्न - आसुरी संपत्तिवालों के कुछ और लक्षण बताओ।

उत्तर - वे (१) अपना सम्मान आप करते हैं। (२) बडों के प्रति विनीत नहीं रहते। (३) धनमद तथा धनाभिमान से युक्त रहते हैं। (४) दर्प एवं दंभ का प्रदर्शन करने के लिए शास्त्र विरुद्ध यज्ञ याग आदि करते रहते हैं। (५) अहंकार, बल, दर्प, काम तथा क्रोध का आश्रय लेते हैं। (६) अपने और दूसरों के शरीर में स्थित भगवान से द्वेष करते हैं। (७) असूया एवं ईर्ष्या से जलते रहते हैं।

प्रश्न - भगवान कहाँ हैं ?

उत्तर - समस्त जीवराशि में भगवान हैं। आसुरी संपत्तिवालों के लक्षणों को दस श्लोकों के द्वारा बतलाकर अन्त में भगवानने कहा कि ऐसे दुर्गुणी नरक में वास करते हैं। फिर और दो श्लोकों के द्वारा उनके दुष्कर्म एवं

दुस्वभाव का वर्णन किया। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान चाहते हैं कि हर प्राणी इन दुर्गुणों से दूर रहे।

इस श्लोक के साथ आसुरी संपत्तिवालों के लक्षणों का वर्णन समाप्त कर दिया गया। कुल १२ श्लोकों के द्वारा भगवानने आसुरी संपत्ति का लगातार वर्णन किया। ऐसे दुष्ट गुणवाले सब के सब राक्षस ही कहलाएंगे। वे मानव हों, तो भी दानव ही कहलाएंगे। लोग समझते हैं कि राक्षस कहीं पाताल लोक में रहते हैं। परन्तु वास्तव में राक्षस हर प्राणी के शरीर में रहता है। काम आदि दुष्टगुण ही राक्षस हैं। हर प्राणी को चाहिए कि वे अपने हृदय में स्थित आसुरी गुणों को निकाल बाहर कर दें। दैवी गुणों से अपना हृदय भर लें। अपने शरीर को भगवान का मंदिर बना लें और अपना जीवन सार्थक बना लें।

सम्बन्ध - इस प्रकार सातवें से अठारहवें श्लोक तक आसुरी स्वभाववालों के दुर्गुणऔर दुराचार आदि का वर्णन करके अब उन दुर्गुण-दुराचारों में त्याज्य - बुद्धि कराने के लिये अगले दो श्लोकों में भगवान् वैसे लोगों की घोर निन्दा करते हुए उनकी दुर्गति का वर्णन करते हैं -

१९. तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

शब्दार्थ - द्विषतः = द्वेष करनेवाले। क्रूरान् = क्रूर। अशुभान् = अशुभ कार्य करनेवाले। तान् नराधमान् =इन मनुजाधमों को। अहम् = मैं। संसारेषु = संसार मार्ग में। आनुरीषु योनिषु एव = असुर सम्बन्धी जन्मों में। अजस्रम् = सदा। क्षिपामि = डालता हूँ।

भावार्थ - उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही डालता हूँ।

व्याख्या - यहाँ भगवान बताते हैं कि दूसरों से तथा भगवान से द्वेष करनेवाले

कैसी दुर्गति पाते हैं। संसार में सत्कर्म करनेवालों को सद्गति एवं दुष्कर्म करनेवालों को दुर्गति प्राप्त होती है। यह सृष्टि की रीति है। इसका उल्लंघन जो करेगा, वह उसका फल पाएगा। आसुरी गुणों का आश्रय लेनेवाले जनन मरण रूपी नरकयातनाएं सहते रहेंगे। अतः हर प्राणी का कर्तव्य है कि वह दैवी गुणों का आश्रय ले।

"तानहं" - भगवान कहते हैं कि मैं ही उन्हें क्रिमि कीट तथा राक्षस आदि नीच योनियों में गिरा देता हूँ।" इससे स्पष्ट होता है कि समस्त सृष्टि का नियामक, शासक एवं कर्मफल के प्रदाता स्वयं भगवान ही हैं।

"नराधमान्" 'मनुजाधम' जैसे कठोर शब्द का प्रयोग यहाँ हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान पापी एवं आसुरीगुणवालों पर कितने नाराज हैं। मनुष्य को अधम नहीं रहना चाहिए। उसे पुरुषोत्तम बनना चाहिए।

"संसारेषु" "आसुरीष्वेवयोनिषु" कहा गया। यहाँ बहुवचन का प्रयोग हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि एक दो जन्म नहीं, राक्षस, क्रिमि तथा कीट आदि अनेक जन्म पाते हैं। उन्हीं में पडे रहकर अनेक दुःख पाते हैं। ऐसे नीच दुःखों से बचना चाहें, तो भी दुष्कर्मों के कारण उसी नरक में पडे रहते हैं। गरुड पुराण पढें, तो मालूम होगा कि किस किस पाप का नरक में कौन सा फल भोगना पडेगा। इसलिए लोगों को आसुरी प्रवृत्तियों से बचकर दैवी गुणों को अपनाकर कैवल्य पद प्राप्त करना चाहिए।

"क्षिपामि" - "फेंक दूंगा" - पापात्मा एवं आसुरी गुणवालों को भगवान कहते हैं कि नीच जन्मों में फेंक दूंगा। इससे ऐसे पापियों के प्रति भगवान के कठोर रूख का पता लगता है। अतः प्राणियों को सतर्क रहकर ऐसे पाप कर्मों से दूर रहना चाहिए।

"अजस्रम" - (हमेशा) - इससे स्पष्ट होता है कि जन्म पर्यंत दुःखों

का तांता लगा रहेगा। लोग पूछा करते हैं कि सांसारिक यातनाएं हम कब तक भोगें?" इस प्रश्न का उत्तर यहाँ मिलता है। "जब तक अज्ञान, पाप, दुश्चरित्रता, भगवान की विस्मृति आदि दुर्गुण मनुष्य में रहेंगे, तब तक सांसारिक बाधाएं रहेंगी। दुर्गुणों के नष्ट होते ही दुःख आदि भी दूर होंगे।

प्रश्न - आसुरी गुणवालों एवं भगवान के द्वेषियों को कौन सा फल मिलता है?

उत्तर - वे दैवनियति से बार बार नीच जन्म लेते रहेंगे। क्रिमि, कीट तथा राक्षस जन्म लेकर नरक यातनाएं भोगते रहेंगे। भगवान ही उन्हें उन उन जन्मों में फेंक देते हैं।

प्रश्न - दैवी शासन कब तक रहेगा?

उत्तर - हमेशा रहेगा (अजस्रम)।

२०. आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

शब्दार्थ - कौन्तेय=हे अर्जुन। आसुरीम् = असुर सम्बन्धी। योनिम् = जन्म। अपन्नाः=पानेवाले। मूढाः = मूढ। जन्मनि जन्मनि = जन्म जन्म में। माम् = मुझे। अप्राप्य एव = प्राप्त किये बिना ही। ततः = उससे। अद्यमाम् = नीच। गतिम् = जन्म। यान्ति = पाते हैं।

भावार्थ - हे अर्जुन! वे मूढ मुझको न प्राप्त होकर जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं, अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं।

व्याख्या - पिछले श्लोक में भगवानने बताया कि नीच योनियों में डाल देता हूँ। इसके बाद की उनकी स्थिति का स्पष्टीकरण यहाँ करते हैं। यहाँ बताया गया कि जब तक वे पाप कर्मों में रत रहेंगे, तब तक नीचातिनीच जन्म प्राप्त करते रहेंगे। वे

अधोगति को प्राप्त होंगे। मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे सचेत रहें। अपना उद्धार करें और दूसरों को सन्मार्ग दिखाकर उनका भी उद्धारकरें। हर मनुष्य को इस स्थिति से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। वह हीन जन्म पाने से अपनी रक्षा कर ले और भगवान की प्राप्ति के लिए अनवरत प्रयास करे, तो उसका उद्धार हो सकेगा।

प्रश्न - असुरजन्म पानेवालों की हालत कैसी होगी ?

उत्तर - वे परमात्मा को न पाकर हीन से हीन जन्म पाएंगे।

प्रश्न - जीव के उद्धार का मार्ग क्या है ?

उत्तर - आसुरी संपत्ति से छूटकर दैवी संपत्ति का ग्रहण करना चाहिए।

२१. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं [illegible]ः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।

शब्दार्थ - कामः = काम। क्रोध = क्रोध। तथा = वैसे ही। लोभः = लोभ। इदम् = यह। त्रिविधम् = तीन प्रकार के। नरकस्य द्वारम् = नरक के द्वार। आत्मनः = अपना। नाशनम् = नाश करेगा। तस्मात् = इस कारण से। एतत् त्रयम् = इन तीनों को। त्यजेत् = छोडना चाहिए।

भावार्थ - काम, क्रोध तथा लोभ - ये तीन प्रकारके नरकके द्वार अपना नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगति में ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनों को त्याग देना चाहिये।

व्याख्या - नरक के तीन द्वारों का विवरण यहाँ दिया गया। काम, क्रोध एवं लोभ-ये तीनों जिनके चित्त में रहेंगे, वह नरक ही बन जाएगा। जो इनसे मुक्त रहते हैं, वे नरक से दूर रहते हैं। यहाँ बताया गया कि ऐसे दुष्ट गुणों से युक्त मनुष्य नाना जन्म पाते रहेंगे और नरक यातनाएं भोगते रहेंगे। प्रश्न उठता है कि क्या उनके उद्धार का कोई उपाय नहीं है। भगवान कहते हैं कि, उपाय हैं। सभी

आसुरीगुण तीन प्रकार के हैं। 1. काम 2. क्रोध 3. लोभ। जो मनुष्य इनसे छूटेगा, वह नरक से दूर होकर ऊर्ध्व गति को प्राप्त करेगा। अगले श्लोक में इस सत्य का स्पष्टीकरण भगवान और करते हैं। अतः साधकों को चाहिए कि अपने हृदय का निरीक्षण कर लें, काम, क्रोध एवं लोभ को अपने हृदय से निकाल दें, विवेक के सहारे उन्हें पूर्ण रूप से मिटा लें और मोक्ष प्रप्त करें।

प्रश्न – नरक के द्वार कितने हैं ? वे क्या हैं ?

उत्तर – तीन हैं। 1. काम 2. क्रोध 3. लोभ।

प्रश्न – उनसे जीव को कौन सी हानि होती है ?

उत्तर – वे जीव का नाश करते हैं।

प्रश्न – अपना श्रेय चाहनेवाले को क्या करना चाहिए ?

उत्तर – उन तीन दुर्गुणों को त्याग देना चाहिए।

प्रश्न – आसुरी संपत्ति को तीन विभागों में बांट कर कहो कि वे या हैं ?

उत्तर – 1. काम 2. क्रोध 3. लोभ-ये तीनों आसुरी गुणों के भाग हैं।

२२. **एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।**
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

शब्दार्थ – कौन्तेय = हे अर्जुन। एतैः = इन। त्रिभिः = तीन। तमोद्वारैः = नरक के द्वारों से। विमुक्तः = मुक्त। नरः = नर। आत्मनः = अपना। श्रेयः = हित। आचरति = करता है। ततः = इसलिए। परामगतिम् = सर्वोत्कृष्टमोक्ष। याति = पाता है।

भावार्थ – क्योंकि हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारों से मुक्त हुआ अर्थात् काम, क्रोध और लोभ आदि विकारों से छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है। इससे वह परमगतिको जाता है, अर्थात् मेरेकी प्राप्त होता है।

व्याख्या - जब तक काम, क्रोध एवं लोभ ये तीनों दुष्ट गुण चित्त में रहेंगे, तब तक कोई भी तरक्की नहीं कर सकता। अपना भला नहीं कर सकता। भगवान कहते हैं कि मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए पहले इन दुष्ट गुणों को चित्त से निकाल देना चाहिए। जिस प्रकार सूर्यचन्द्र राहु केतु से मुक्त हुए, जिस प्रकार गजेन्द्र मगर के मृत्युमुख से मुक्त हुए, उसी प्रकार मनुष्य को इन दृष्ट गुणों से मुक्त होना चाहिए। यहाँ कहा गया कि वे तमोद्वार हैं। अतः उनसे युक्त मनुष्य अज्ञान के अन्धकार में ही वास करेगा। दुःख ही भोगेगा।

"आचरत्यात्मन. श्रेयः" - जब तक वे कामादि चित्त में रहेंगे, तब तक कोई भी अपना हित नहीं कर सकेगा। जब तक वासनाओं का क्षय नहीं होगा। इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि जीव को पहले इन तीन दुष्ट गुणों से विमुक्त होना चाहिए।

"परांगतिम्" कहने से स्पष्ट होता है कि सभी पदों में मोक्ष सर्वोत्तम है।

प्रश्न - काम आदि कैसे हैं ?

उत्तर - वे नरक के द्वार हैं।

प्रश्न - मोक्ष रूपी हित के लिए कौन प्रयत्न करेगा ?

उत्तर - काम आदि से जो मुक्त होगा, वह प्रयत्न करेगा।

प्रश्न - उस प्रयत्न से उसे कौन सा फल मिलेगा ?

उत्तर - वह मोक्ष प्राप्त करेगा।

प्रश्न - मोक्ष का पद कैसा है ?

उत्तर - सब से उत्तम एवं उत्कृष्ट है।

सम्बन्ध - जो उपर्युक्त दैवीसम्पदाका आचरण न करके अपनी मान्यताके अनुसार कर्म करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है या नहीं ? इसपर कहते हैं-

२३. यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।

शब्दार्थ - यः = जो। शास्त्र विधिम् = शास्त्र की विधि। उत्सृज्य = छोड कर। काम कारतः = मनमाना। वर्तते = वर्तता है। सः = वह। सिद्धिम् = सिद्धि। न अवाप्नोति = नहीं पाता। सुखम् = सुख। न (अवाप्नोति) = नहीं पाता। परांगतिम् = उत्तम मोक्ष। न (अवाप्नोति) = नहीं पाता।

भावार्थ - और जो पुरुष शास्त्र की विधि को त्यागकर अपनी इच्छासे बर्तता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परमगति को तथा न सुख को ही प्राप्त होता है।

व्याख्या - इस श्लोक में अपनी अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करने का खंडन किया गया। सब लोग अपनी अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करें और सोचें कि यह ठीक है, यह सही तरीका नहीं है। अनुष्ठान की शास्त्र की दृष्टि से परखना जरूरी है। अपना आचरण तथा अनुष्ठान शास्त्र सम्मत लगे तो ठीक है। नहीं तो गलत समझकर अपने आचरण को बदल लेना चाहिए। इसीलिए भगवान ने यहाँ स्पष्ट कह दिया कि जो लोग भगवान के आशयों का उल्लंघन करते हैं, वे मोक्ष नहीं पासकते। सुख नहीं पासकते। अतः विज्ञ पुरुषों को शास्त्रों के आदेश का ही पालन करना चाहिए।

प्रश्न - मनुष्य को किस प्रकार का अनुष्ठान करना चाहिए ?

उत्तर - शास्त्रों के अनुसार करना चाहिए।

प्रश्न - अपनी इच्छा के अनुसार करें तो क्या होगा ?

उत्तर - तब वह पुरुषार्थ, मोक्ष व सुख नहीं पासकता।

प्रश्न - सुख तथा मोक्ष पाने का उपाय क्या है ?

उत्तर - शास्त्र के अनुसार अनुष्ठान करना ही अच्छा उपाय है।

प्रश्न - संसार के सब पदों में उत्तम कौन सा है ?

उत्तर - मोक्ष ही सर्वोत्तम पद है।

सम्बन्ध - शास्त्रविधि को त्यागकर किये जानेवाले मनमाने कर्म निष्फल होते हैं, यह बात सुनकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिये ? इसपर कहते हैं -

२४. तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रंविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

शब्दार्थ - तस्मात् = इस कारण से। ते = तुम्हें। कार्या कार्य व्यवस्थितौ = कर्तव्य अकर्तव्य की व्यवस्था में। शास्त्रम् = शास्त्र। प्रमाणम् = प्रमाण है। शास्त्र विधानोक्तम् = शास्त्र में बताये गये को। ज्ञात्वा = जानकर। इह = इस संसार में। कर्म=कर्म। कर्तुम् = करने को। (त्वम् = तुम) अर्हसि = योग्य हो।

भावार्थ - इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधि से नियत कर्म ही करने योग्य है।

व्याख्या - जब निर्णय करना पडे कि कौन सा काम किया जाय और कौन सा काम न किया जाय, तब शास्त्र ही प्रामाणिक होगा। भगवान कहते हैं कि शास्त्र के अनुसार ही करना चाहिए। "तस्मात्" शब्द से स्पष्ट होता है कि शास्त्र के विरुद्ध आचरण किया जाय, तो सुख व मोक्ष नहीं मिलेगा। इससे भगवान की दृष्टि में शास्त्रों का महत्त्व ज्ञात होता है। स्वयं भगवान जब शास्त्रों को इतना महत्त्व देते हैं तो लोगों को चाहिए कि वे उन्हें मानकर चलें। उन पर अंचचल विश्वास रखें। उनके दिखाये मार्ग पर चलकर अपना जीवन धन्य बना लें।

"ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तम्" - इससे स्पष्ट होता है कि कर्म के आचरण के पूर्व शास्त्र का ज्ञान अत्यंत आवश्क है। शास्त्र के परिचय से उत्तम रीति कर्माचरण सुलभ होता है। क्रमशः चित्त शुद्ध होता है। फलस्वरूप ब्रह्म की अनुभूति होती है।

"कर्म कर्तु मिहार्हसि" - इससे स्पष्ट होता है कि कर्म करने में दोष नहीं है, परन्तु वह कर्म शास्त्र सम्मत होना चाहिए। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण को अर्जुन को शास्त्रों के द्वारा उद्दिष्ट कर्म करने का आदेश देते हैं।

प्रश्न - कर्तव्य अकर्तव्य के विवरण में प्रमाण क्या है ?

उत्तर - शास्त्र ही प्रमाण है।

प्रश्न - कर्म कब करना चाहिए ?

उत्तर - शास्त्र का विधान जानकर करना चाहिए।

प्रश्न - कर्म कैसे करना चाहिए ?

उत्तर - शास्त्रों में बताये गये मार्ग पर चलकर करना चाहिए।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ।।

यह उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र श्रीकृष्णार्जुन संवादरूपी श्री भगवद्गीता के दैवासुर संपद्विभाग योग शीर्षक सोलहवाँ अध्याय है।

ॐ तत् सत्

ॐ

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ सप्त दशोऽध्यायः

सत्रहवाँ अध्याय

श्रद्धात्रयविभाग योगः

श्रद्धात्रय विभाग योग

इस अध्याय का शीर्षक

इस अध्याय का शीर्षक है - श्रद्धात्रय विभाग योग। श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, सात्विक, राजसिक एवं तामसिक। इस अध्याय में बताया गया कि जिस मनुष्य के हृदय में जिस श्रद्धा की अधिकता होती है, उसके लक्षण कैसे हेते हैं। इस प्रकार चूंकि तीन प्रकार की श्रद्धा के बारे में बताया गया, अतः इस अध्याय का शीर्षक श्रद्धात्रयविभाग योग रखा गया।

इस अध्याय के प्रधान विषय

१. तीन प्रकार की श्रद्धा का विवरण - (श्लोक १ से श्लोक ३ तक)।

२. तीन प्रकार की आराधना एवं शास्त्र विरोधी घोर तपस्या - (श्लोक ४ से श्लोक ६ तक)।

३. तीन प्रकार का आहार - (श्लोक ७ से श्लोक १० तक)।

४. तीन प्रकार के यज्ञ - (श्लोक ११ से श्लोक १३ तक)।

५. तीन प्रकार की तपस्या - (श्लोक १४ से श्लोक १९ तक)।

६. तीन प्रकार के दान - (श्लोक २० से श्लोक २२ तक)।

७. 'ॐतत् सत्' मंत्र की व्याख्या - (श्लोक २३ से श्लोक २७ तक)।

८. अश्रद्धा के साथ किये जानेवाले कार्य का फल - (श्लोक २८ तक)।

सम्बन्ध - सोलहवें अध्याय के आरम्भ में श्रीभगवान्ने निष्कामभाव से सेवन किये जानेवालेशास्त्रविहित गुण और आचरणों का दैवीसम्पदा के नाम से वर्णन करके फिर शास्त्रविपरीत आसुरी सम्पत्ति का कथन किया। साथ ही आसुर-स्वभाववाले पुरुषों को नरकों में गिरानेकी बात कही और यह बतलाया कि काम, क्रोध, लोभ ही आसुरी सम्पदाके प्रधान अवगुण हैं और ये तीनों ही नरकों के द्वारा हैं। इनका त्याग करके जो आत्मकल्याण के लिये साधन करता है, वह परमागति को प्राप्त होता है। इसके अनन्तर यह कहा कि जो शास्त्रविधिका त्याग करके, मनमाने ढंग से अपनी समझ से जिसको अच्छाकर्म समझता है, वही करता है, उसे अपने उन कर्मों का फल नहीं मिलता, सिद्धि के लिये किये गये कर्मसे सिद्धि नहीं मिलती; सुखके लिये किये गये कर्मसे सुख नहीं मिलता और परमगति तो मिलती ही नहीं। अतएव करने और न करने योग्य कर्मों की व्यवस्था देनेवाले शास्त्रों के विधान के अनुसार ही तुम्हें निष्कामभाव से कर्म करने चाहिये। इससे अर्जुनके मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि जो लोग शास्त्रविधिको छोडकर मनमाने कर्म करते हैं, उनके कर्म व्यर्थ होते हैं, यह तो ठीक ही है। परंतु ऐसे लोग भी तो हो सकते हैं, जो शास्त्रविधि का तो न जानने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से त्याग कर बैठते हैं; परंतु यज्ञ-पूजादि शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक करते हैं, उनकी क्या स्थिति होती है ? इस जिज्ञासा को व्यक्त करते हुए अर्जुन भगवान् से पूछते हैं —

अर्जुन उवाच

१. ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।।

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले । कृष्ण = हे कृष्ण । ये = जो । शास्त्रविधिम् = शास्त्रविधि को । उत्सृज्य = छोड कर । श्रद्धया अन्विताः = श्रद्धायुक्त होकर । यजन्ते = पूजा आदि करते हैं । तेषाम्-उनकी । निष्ठातु = स्थिति । का = कैसी है ? । सत्त्वम् = सात्विक है ? । अहो = या । रजः = राजस है ? । (अथवा = या) ? तमः = तामसिक है ?

भावार्थ - अर्जुन बोले १ हे कृष्ण ! जो मनुष्य शास्त्रविधि को त्याग कर श्रद्धा से युक्त हुए देवादि का पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौनसी है ? सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी ?

व्याख्या - अर्जुन ने पूछा कि शास्त्र सम्मत विधियों के बारे में किसी कारणवश न जानकर जो आस्तिक बुद्धि से देवताओं की पूजा करते हैं उनकी प्रवृत्ति कैसी है ? सात्त्विक है ? राजसिक है या तामसिक है ?

सम्बन्ध - अर्जुन के प्रश्न को सुनकर भगवान् अब अगले दो श्लोकों में उसका संक्षेप में उत्तर देते हैं।

श्री भगवानुवाच

२. त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु ।।

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले । देहिनाम् = प्राणियों के । स्वभावजा = स्वभाव से प्राप्त । साश्रद्धा = वह श्रद्धा । सात्विक = सात्विक श्रद्धा। राजसी च इव = राजसिक श्रद्धा । तामसी च इव = तामसिक श्रद्धा । त्रिविधा = तीन प्रकार की । भवति = होती है । ताम् = उसे । श्रुणु = सुनो ।

भावार्थ - श्री भगवान् बोले — मनुष्यों की वह शास्त्रीय संस्कारों से रहित केवल स्वभाव से उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी — ऐसे तीनों प्रकार की होती है। उसको तू मुझसे सुन।

व्याख्या - 'सास्वभावजा' कहने से स्पष्ट होता है कि पूर्वजन्म के संस्कार तथा जन्मांतरवसनाओं के प्रभाव से वैसी श्रद्धा उनमें अपने आप उत्पन्न होती है।

प्रश्न - श्रद्धा कितने प्रकार की है ? क्या क्या ?

उत्तर - श्रद्धा तीन प्रकार की है (१) सात्विक (२) राजसिक (३) तामसिक।

प्रश्न - वह श्रद्धा जीवीं में कैसे उत्पन्न होती है ?

उत्तर - स्वभाव से, जन्मांतर प्रभाव से वह उत्पन्न होती है।

३. **सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।**
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।

शब्दार्थ - भारत = हे अर्जुन। सर्वस्य = समस्त जीवों की। सत्वानुरूपा = उन उनके अंतःकरण के अनुसार। श्रद्धा = श्रद्धा। भवति = होती है। अयम् = यह। पुरुषः = जीव। श्रद्धामयः = श्रद्धामय है। यः = जो। यच्छ्रद्धः=जैसा श्रद्धालु है। स = वह। सः एव = वैसी ही श्रद्धा से युक्त (भवति = होता है)।

भावार्थ - हे भारत ! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।

व्याख्या - मन ही मनुष्य है। मनुष्य ही मन है। मन शुद्ध रहे, तो मनुष्य भी शुद्ध रहता है। 'सत्वानुरूपा' कहा गया। सत्व का अर्थ है, अंतःकरण। हर व्यक्ति का उसके जन्म जन्मांतर के संस्कार के अनुसार अंतःकरण होता है। उसके अनुसार ही उसकी श्रद्धा होती है। उसका गुण होता है। जो जिस श्रद्धा व जिस गुण से रहता है, वह तद्रूप बनता है। अतः मनुष्य को सब से पहले अपना

अंतःकरण शुद्ध रखना चाहिए। उसे सात्विक एवं श्रद्धामय बनना चाहिए। फिर साधना के बल पर निर्गुण आत्मस्वरूप बनकर उसीका रूप धारण करना चाहिए। सात्विक श्रद्धा को अपनाकर क्रमशः विशुद्धस्थिति में स्थित होना चाहिए। वही उसका यथार्थ स्वरूप है, यथार्थस्थान है।

प्रश्न – जीवों की कैसी श्रद्धा होती है ?

उत्तर – उनका अंतःकरण जैसा होता है, उसी के अनुसार उनकी श्रद्धा होती है।

प्रश्न – मनुष्य किससे पूर्ण बनता है ?

उत्तर – श्रद्धा से पूर्ण बनता है।

प्रश्न – मनुष्य का स्वभाव कैसा है ?

उत्तर – वह जैसी श्रद्धा से युक्त होता है, वैसे ही स्वभाव का होता है।

सम्बन्ध – श्रद्धा के अनुसार मनुष्यों की निष्ठाका स्वरूप बतलाया गया। इससे यह जानने की इच्छा हो सकती है कि ऐसे मनुष्यों की पहचान कैसे हो कि कौन किस निष्ठावाला है। इस पर भगवान् कहते हैं —

४. यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥

शब्दार्थ – सात्विकाः = सत्वगुणी। देवान्=देवताओं को। यजन्ते=पूजते हैं। राजसाः = रजोगुणी। यक्षरक्षांसि = राजसों को। (पूजते हैं)। अन्ये = अन्य। तामसाः जनाः = तमोगुणी जन। प्रेतान् = प्रेतों। भूतगणान् च = भूतगणों को। यजन्ते = पूंजते हैं।

भावार्थ – सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं।

व्याख्या – जो लोग जिन गुणों से युक्त होते हैं, वे उसी स्वभाव के होते हैं। उनका बर्ताव, उनका आहार-विहार, उनकी बातें, उनका ढंग, उनके पाठ्य ग्रन्थ,

उनके पूज्य देव उनके गुण के अनुसार ही होते हैं। यह बात पहले १४वें अध्याय में भगवानने बता दी। उस भाव को और दृढ बनाने के लिए भगवान यहाँ फिर बता रहे हैं।

५. **अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।**
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥

६. **कर्शयन्तः शरीरस्थं भूत[illegible]चेतसः।**
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

शब्दार्थ - ये जनाः = जो जन। शरीरस्थम् = शरीर में स्थित। भूत ग्रामम् = पंच भूतों के समूह को। कर्शयन्तः = कृश करनेवाले। अन्तःशरीरस्थम् = शरीर में अन्तर्यामी के रूप में स्थित। माम् च एव=मुझे। कर्शयन्तः=कृश करनेवाले। दंभाहंकार संयुक्ताः = दंभाहंकार से युक्त। अचेतसः =अविवेकी होकर। अशास्त्र विहितम् = शास्त्र विधि से रहित। घोरम् = घोर। तपः = तप। तप्यन्ते = तपते हैं। तान् = उन्हें। असुर निश्चयान् = आसुरी स्वभाववाले। विद्धि = जानो।

भावार्थ - जो मनुष्य शास्त्रविधि से रहित केवल मनःकल्पित घोर तप को तपते हैं तथा दम्भ और अहङ्कार से युक्त एवं कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त हैं, जो शरीररूप से स्थित भूतसमुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करनेवाले हैं, उन अज्ञानियों को तू आसुर-स्वभाववाले जान।

व्याख्या - "अशास्त्र विहितम्" - गीता आदेश देती है कि शास्त्र विरोधी कार्य नहीं करना चाहिए। घोर तपस्याएं तथा भयंकर राजस एवं तामस क्रियाएं शास्त्र सम्मत नहीं हैं। अतः शास्त्र विरोधी वे क्रियाएं निंद्य होती हैं। "तप्यन्ते ये तपोजनाः" - वास्तव में तपस्या माने अंतःकरण के दोषों को भस्म करना है, न कि शरीर को क्षीण करना या दुःख देना। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे दूसरों को खतरे में डालनेवाले क्रूर तप न करें। (रावण तथा हिरण्य कश्यप के तप त्याज्य हैं।)

"कामराग बलान्विताः" - सांसारिक बल जितना भी रहे, यदि दैवीबल न हो, तो वह व्यर्थ हो जाता है। क्षुद्रबलवाले राक्षसों की श्रेणी में आते हैं। काम, राग आदि मनुष्य की मानवता एवं देवत्व का हरण कर उनकी पारमार्थिक शक्ति को क्षीण कर देते हैं। मनुष्य को राक्षस बना देते हैं। अतः उन्हें त्यागना चाहिए। आसुरी स्वभाववालों का बल काम है, राग है। दैवी संपत्तिवालों का बल भक्ति है, ज्ञान है। अतः काम, राग त्याग कर भक्ति एवं ज्ञान को स्वीकारना चाहिए।

"कर्शयन्तः शरीस्थं भूतग्रामम्" - उपवास आदि से शरीर को सुखाना आसुरी स्वभाव का लक्षण है। स्वास्थ्य की रक्षा एवं व्रतादि के अवसर पर कभी कभी उपवास करना ठीक ही है। परन्तु अति नहीं करनी चाहिए। तब वह राक्षसी उपवास कहलाएगा। दीर्घकाल तक उपवास करने से चित्त की वासनाएं नहीं मिटतीं। कुछ अपने दीर्घकालिक उपवासों की बडाई करते रहते हैं। यह ठीक नहीं है। भगवानने स्पष्ट कह दिया कि ऐसे उपवास आसुरी स्वभाव के अनुकूल हैं। अतः सात्विक उपवासों के द्वारा दैवी स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। भगवान श्रीकृष्णने चमत्कारिक ढंग से कहा कि ऐसे दीर्घकालीन उपवासों के द्वारा ये लोग उनके शरीर में स्थित मुझको भी सुखा रहे हैं। वास्तव में निर्विकार परब्रह्म का सूखना संभव नहीं है। फिर भी भगवान के इस वाक्य से मुमुक्षुओं को समझना चाहिए कि दीर्घ कालीन उपवास आदि ठीक नहीं हैं। अतः लोगों को पाप कर्म छोडकर पुण्य कर्म करना चाहिए। अपने ही शरीर में स्थित भगवान को प्राप्त करना चाहिए। शुष्क उपवासों से आत्मा को दुःख नहीं देना चाहिए। मित एवं सात्विक आहार ग्रहण कर ध्यान आदि के द्वारा परमात्मा की अनुभूति पाकर कृतकृत्य होना चाहिए।

प्रश्न - आसुरी स्वभाववाले कौन हैं ?

उत्तर - (१) दंभी एवं अहंकारी (२) काम एवं राग युक्त (३) अविवेकी (४) शास्त्र

विरोधी घोर तपस्याएं आदि करके शरीर में स्थित परमात्मा को दुःख एवं पीडा पहुँचानेवाले आसुरी स्वभाववाले हैं।

प्रश्न - विज्ञ पुरुषों को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - दंभ, अहंकार, काम, राग, को त्याग कर विवेकी बनकर शास्त्र सम्मत कार्य करना चाहिए। शुष्क उपवास आदि छोडना चाहिए। परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।

सम्बन्ध - त्रिविध स्वाभाविक श्रद्धावालों के तथा घोर तप करनेवाले लोगों के लक्षण बतलाकर अब भगवान् सात्त्विक का ग्रहण और राजस-तामसका त्याग कराने के उद्देश्य से सात्त्विक-राजस-तामस आहार, यज्ञ, तप और दान के भेद सुनने के लिये अर्जुन को आज्ञा देते हैं -

७. आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु ॥

शब्दार्थ - आहारःतु अपि = आहार भी। सर्वस्य = सब को। त्रिविधः = तीन प्रकार का। प्रियः भवति = प्रिय होता है। तथा = वैसे ही। यज्ञः= यज्ञ। तपः=तप। दानम्=दान। त्रिविधः प्रिय भवति=तीन प्रकार के प्रिय होते हैं। तेषाम् = उनके। इमम् = इस। भेदम् =भेद को। श्रृणु = सुनो।

भवार्थ - भोजन भी सब को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है। और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं। उनके इस पृथक् - पृथक् भेद को तू मुझसे सुन।

व्याख्या - भगवानने आहार आदि चार पदार्थों के बारे में बताना चाहा। उनमें से आहार पदार्थों के बारे में पहले बताया। जीव की आध्यात्मिक साधना में आहार की शुचिता सब से मुख्य है। आहार की शुद्धि से चित्त की शुद्धि होगी। चित्त की शुद्धि से ज्ञानोदय होगा। आहारशुद्ध न हो तो मन भी मलिन होगा। इससे लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी।

प्रश्न - आहार, यज्ञ, तप, दान लोगों को किस प्रकार प्रिय हैं ?

उत्तर - उन उनके गुणों के अनुसार तीन प्रकार से प्रिय होते हैं।

सम्बन्ध - पूर्व श्लोक में भगवान्ने आहार, यज्ञ, तप और दान के भेद सुनने की आज्ञा की हैं, उसीके अनुसार इस श्लोक में ग्रहण करने योग्य सात्त्विक आहार का वर्णन करते हैं -

८. आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

शब्दार्थ - आयुः सत्वबलारोग्यसुख प्रीतिविवर्धनाः = आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख, प्रीति को बढानेवाले। रस्याः = रसयुक्त। स्निग्धाः = चिकने। स्थिराः = स्थिर रहनेवाले। हृद्याः = मन को प्रिय। आहाराः = आहार। सात्त्विक प्रियाः = सात्त्विकों को प्रिय होते हैं।

भावार्थ - आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय -ऐसे आहार अर्थात् भोजन के पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

व्याख्या - सद्गुणवालों के लिए प्रिय लगनेवाले आहार इस श्लोक में बताये गये। ध्यान आदि के लिए उपर्युक्त सात्विक आहार उपयोगी हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में आहार बहुत मुख्य है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण सात्विक आहार की महत्ता बताते हैं।

प्रश्न - सात्विक आहार क्या है ?

उत्तर - (१) आयु, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, सुख को बढाता है (२) रसयुक्त (३) चिकने (४) देह के लिए पुष्टिकर मनोहर आहार है। सात्विक विज्ञ पुरुषों को सात्विक आहार लेना चाहिए।

९. कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

शब्दार्थ - कटु =कडवे । आम्ल = खट्टे । लवण =लवणयुक्त । अत्युष्ण = बहुत गरम । तीक्ष्ण = तीखे । रूक्ष =रूखे । विदाहिनः =दाह कारक । दुःख शोकामयप्रदाः = दुःख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करनेवाले । आहाराः = आहार पदार्थ । राजसस्य = राजस पुरुष को । इष्टाः = प्रिय (होते)हैं ।

भावार्थ - कड़वे, खट्टें, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करने के पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय होते हैं ।

व्याख्या - इस श्लोक में बताये आहार पदार्थ राजस हैं । ये त्याज्य हैं । "दुःख शोकामय प्रदाः" - यहाँ दुःख माने भोजन करते ही शरीर को होनेवाली व्यथा है। शोक माने भोजन करते ही मन को होनेवाला क्लेश है।

कुछ विद्वानोंने "उष्णः" शब्द के पूर्व 'अति' विशेषण जोडकर कटु आदि सभी शब्दों के साथ अन्वय करके अर्थ बताया । लेकिन यह समीचीन नहीं लगता। क्योंकि तब अति कटुता निषिद्ध मानी जाएगी, तो अल्प कटुता ग्राह्य मानी जाएगी, जो ठीक नहीं है।

राजसी सुख आरंभ में अमृततुल्य लगेगा । अन्त में विषतुल्य बन जाएगा। कई लोग इस बात का अनुभव करते हैं । रजोगुण को बढानेवाला आहार लेनेवालों का ध्यान ठीक तरह से नहीं चल सकता। चित्त चंचल होगा। शेर, बाघ, चीता तथा भेडिया जैसे राजस पदार्थ मांस भक्षी खूंख्वार जानवर क्रूर एवं अति चंचल होते हैं। घास फूस खानेवाली गाएं तथा बकरियां आदि सात्विक प्रवृत्ति की होती हैं।

"आमय प्रदाः" कहने से स्पष्ट होता है कि राजस आहार स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं। ऐसे दुःखदायक एवं रोग प्रवर्धक राजस आहार पदार्थ मुमुक्षुओं को नहीं खाना चाहिए।

प्रश्न - राजस आहार कैसा है ?

उत्तर - (१) कटु, खट्टा, लवणयुक्त, तीखा होता है। (२) अति गरम होता है। (३) प्यास बढाता है।

प्रश्न - मुमुक्षुओं को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - राजस आहार से होनेवाले नुकसानों पर ध्यान देकर उसे त्याग देना चाहिए।

१०. यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।

शब्दार्थ - यातयामम् = अधपका। गतरसम् =रस रहित। पूति = दुर्गन्धयुक्त। पर्युषितं च =बासी। उच्छिष्टम् अपि = उच्छिष्ट है। अमेध्यं च =अपवित्र भी। यत् = जो। भोजनम् =आहार। (अस्ति = है। तत् = वह।) तामसप्रियम् = तामस पुरुष को प्रिय है।

भावार्थ - जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।

व्याख्या - स्वास्थ्य की दृष्टि से भी तामस एवं राजस आहार त्याज्य हैं। अपवित्र बासी खाना खावें, तो गंदे खाद्य पदार्थों के कण शरीर में प्रवेश कर रक्त को बिगाड देते हैं। स्वास्थ्य गिर जाता है। फिर उस आहार के सूक्ष्म पदार्थ प्रवेश कर मन को भी बिगाड देते हैं। इसलिए मुमुक्षुओं को कभी भी ऐसे गन्दे खाद्य पदार्थ खाना नहीं चाहिए।

सम्बन्ध - इस प्रकार भोजन के तीन भेद बतलाकर, अब यज्ञ के तीन भेद बतलाये जाते हैं। उनमें पहले करने योग्य सात्त्विक यज्ञ के लक्षण बतलाते हैं -

११. अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।

शब्दार्थ - यष्टव्यम् एव = करने योग्य। इति = ऐसा। मनः = मन को। समाधाय = समाधान कर। विधि दृष्टः = शास्त्र विधि से सम्मत। यः यज्ञः = जो यज्ञ। अफलाकाङ्क्षिभिः = फल न चाहनेवाले से। इज्यते=किया जाता है। सः=वह। सात्विकः = सात्विक है।

भावार्थ - शास्त्रविधिसे नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है - इस प्रकार मनको समाधान कर जो कर्म फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है।

व्याख्या - हर व्यक्ति को कार्य करने के पूर्व सोचना चाहिए कि मैं जो कर रहा हूँ, वह शास्त्र सम्मत है या नहीं ! शास्त्र सम्मत हो, तो करना चाहिए। इसीलिए 'विधि दृष्टः' कहा गया। "यह करने योग्य है" वाली कर्तव्यबुद्धि से फल की अपेक्षा किये बिना उसे करना चाहिए। तब वह सात्विक कार्य होगा। यहाँ यज्ञ कहा गया। इसका मतलब पशुओं की हिंसा से सम्बन्धित यज्ञ नहीं है। भगवान का ध्यान, परोपकार तथा दैव सम्बन्धी कार्य है। जो सत्कार्य है, वह इसके अंतर्गत आता है।

"मनः समाधाय" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि हर व्यक्ति को कार्य करने के पूर्व संशय को जगह न देकर निश्चयात्मक बुद्धि से कार्य शुरू करना चाहिए। मन को समाधान किये बगैर जो भी काम शुरू किया जाता है, वह पूरा नहीं होता। अतः पहले ही अच्छी तरह सोच विचार कर शास्त्र सम्मत कार्य ही करना चाहिए। तभी वह सत्फल प्रदान करेगा। ऐसा कार्य ही सात्विक कार्य व सात्विक यज्ञ कहलाएगा।

प्रश्न - सात्विक यज्ञ कैसा होता है ?

उत्तर - (१) शास्त्र सम्मत होता है। (२) फल की अपेक्षा के बगैर किया जाता है। (३) "यह करने योग्य है" इस प्रकार मन को समाधान कर किया जाता है। यह सात्विक यज्ञ कहलाता है।

१२. अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥

शब्दार्थ - भरत श्रेष्ठ = भरतवंश के श्रेष्ठ हे अर्जुन। फलम्= फल। अभिसन्धायतु = अपेक्ष कर। दम्भार्थम् अपि च एव = दम्भाचरण के लिए। यत् = जो। इज्यते = किया जाता है। तं यज्ञम् = वह यज्ञ। राजसम् = राजस। विद्धि = जानो।

भावार्थ - परन्तु हे अर्जुन ! केवल दम्भाचरण के लिये अथवा फल को भी दृष्टि में रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञ को तू राजस जान।

व्याख्या - फल की अपेक्षा करके जो कर्म किया जाता है, वह कभी भी चित्त को शुद्ध नहीं करता। चित्त शुद्ध न हो, तो आत्मतत्व प्रकाशित नहीं होता। इसीलिए ऐसा कर्म यहाँ राजस बताया गया। यहाँ यह भी बताया गया कि जो केवल यश व दिखावे के लिए किया जाता है, वह कर्म भी राजस है। वह त्याज्य है। उसे नहीं करना चाहिए।

प्रश्न - राजसयज्ञ कैसा है ?

उत्तर - (१) फल की अपेक्षा से जो किया जाता है। (२) दम्भ के लिए जो किया जाता है, वह यज्ञ राजस कहलाता है।

सम्बन्ध - अब तामस यज्ञ के लक्षण बतलाये जाते हैं, जो कि सर्वथा त्याज्य हैं -

१३. विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

शब्दार्थ - विधि हीनम् = शास्त्र विधि से हीन। असृष्टान्नं = अन्नदान से रहित। मन्त्रहीनम् = मन्त्र रहित। अदक्षिणम् = बिना दक्षिणा के। श्रद्धा विरहितम् =बिना श्रद्धा के। यज्ञम् = यज्ञ को। तामसम् = तामस। परिचक्षते = कहते हैं।

भवार्थ - शास्त्रविधि से हीन, अन्नदान से रहित, बिना मन्त्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के किये जानेवाले यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं।

व्याख्या - असृष्टान्नम् - अन्नदान, अनुष्ठान, वेदान्त का एक स्वरूप है। जो यह अच्छी तरह जानता है कि सर्वभूतों में भगवान हैं, वह परोपकार अवश्य करेगा। इसीलिए शायद हमारे पूर्वजों ने सभी शुभ शादी वगैरह तथा अशुभ श्राद्ध वगैरह में अन्नदान की प्रथा प्रचलित कर दी। इस अन्नदान के कार्य से यह विचार आचरण में लाया जा सकेगा कि ये सब प्राणी मेरे हैं। जिसमें अन्नदान

नहीं, वह तामस यज्ञ माना जाता है। "अदक्षिणम्" - यह भी उपर्युक्त अन्नदान जैसा ही है। अपने पास जो धन है, उसमें से थोडा भाग ऋत्विकों, गरीबों, दरिद्र नारायणों को दक्षिणा के रूप में देना चाहिए। यह त्याग का त्तिह्न है। गीताचार्यने कहा कि ऐसे पवित्र कार्य के बिना जो यज्ञ किया जाता है, वह तामस है।

"श्रद्धा विरहितम्" - कोई भी कार्य तभी सत्फल देगा, जब कि वह भक्ति, श्रद्धा तथा पूर्ण विश्वास के साथ किया जाता है। हर साधक को श्रद्धा भक्ति तथा विश्वास के साथ तामस प्रवृत्ति को त्याग कर समस्त कार्य करना चाहिए।

प्रश्न – तामसयज्ञ कैसा है ?

उत्तर - (१) शास्त्र विरोधी है। (२) अन्नदान रहित है। (३) मन्त्र रहित है। (४) दक्षिणा रहित है। (५) श्रद्धा से नहीं किया जाता।

सम्बन्ध - इस प्रकार तीन तरह के यज्ञों का लक्षण बतलाकर, अब तप के लक्षणों का प्रकरण आरम्भ करते हुए चार श्लोकों द्वारा सात्त्विक तप का लक्षण बतलाने के लिये शारीरिक तप के स्वरूप का वर्णन करते हैं -

१४. देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

शब्दार्थ -देवद्विजगुरुप्राज्ञ पूजनम् = देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन। शौचम् = शुचिता। आर्जवम् =ऋजुता से युक्त। ब्रह्मचर्यम् = ब्रह्मचर्य। अहिंसा च = अहिंसा। शारीरम् = शरीर सम्बन्धी। तपः = तप। उच्यते =कहा जाता है।

भावार्थ - देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा - यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

यहाँ 'गुरु' शब्द से माता, पिता, आचार्य और वृद्ध एवं अपने से जो किसी प्रकार भी बड़े हों, उन सब को समझना चाहिये।

व्याख्या - १४,१५,१६ वें श्लोकों में शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तीन प्रकार की तपस्याओं के बारे में बताया गया है। ये बहुत ही मुख्य श्लोक हैं। साधक इन तीन तपस्याओं का अच्छी तरह अनुशीलन कर उन्हें अमल में लाएंगे तो उन्हें आत्मा की अनुभूति बडी आसानी से होगी। इस अध्याय में आहार, यज्ञ एवं दान नामक विषयों का स्पष्टीकरण करते हुए उनमें से एक के सात्विक, राजस, तामस रूपों के अलावा तत्संबन्धी शारीरिक, वाचिक, मानसिक तपस्या ओं का भी ध्रुवीकरण किया गया। इन्द्रियों में जमी मलिनता को अच्छी तरह तपा कर उसे बाहर निकाल देना ही वास्तव में तपस्या है। वही मोक्ष है। परमार्थ की साधना में यह बहुत ही मुख्य है। इसीलिए गीताचार्य ने तपस्या के बारे में कहते हुए विशेष रूप से तीन प्रकार की तपस्याओं के बारे में बताया। कई लोग तपस्या का नाम सुनते ही डर जाते हैं। वे समझते हैं कि वर्षा एवं धूप में तपना ही तपस्या है। लेकिन भगवान श्रीकृष्णने यहाँ तपस्या का जो विवरण दिया, उसे अच्छीतरह जान लें तो किसी को तपस्या से डरने की जरूरत नहीं पडती। यहाँ भयंकर तपस्याओं का उल्लेख नहीं है। सब के लिए सुलभ तथा आचरणयोग्य त्रिविध तपस्याओं के बारे में यहाँ बताया गया। इन्हें अमल में लाकर स्त्री, पुरुष, जवान, वृद्ध सभी शरीर, वाक् एवं मन को शुद्ध बनाकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इस श्लोक में शारीरिक तपस्या के बारे में बताया गया। पांच साधनाएं बतायी गयीं। (१) पहली साधना है, बडों की सेवा एवं पूजा करना। इससे दो सत्फल प्राप्त होते हैं, (१) उनका अनुग्रह प्राप्त होगा। (२) अहंकार एवं अभिमान का शमन होगा। अध्यात्म मार्ग में सर्वेश्वर, सद्गुरु तथा महात्मा ओं का अनुग्रह आवश्यक है। उसके बिना दुस्तर माया किसी को रास्ता नहीं देगी। अवरोध दूर नहीं होंगे।अतः महात्माओं का अनुग्रह मुमुक्षुओं के लिए बहुत जरूरी है। इसीलिए भगवानने इसमें बडों के अनुग्रह की प्राप्ति पर जोर दिया है।

"द्विज" - द्विज का अर्थ है दूसरा जन्म लेनेवाले। अर्थात् पैदा होने पर प्राप्त जन्म के अलावा, संस्कार एवं साधना से प्राप्त द्वितीय जन्मवाले। अज्ञान से छुटकारा पाकर या अज्ञान से युक्त पुराना शरीर एवं पुराना मन त्याग कर ब्रह्मज्ञान से युक्त नये शरीर तथा मन प्राप्त करनेवाले। उनका जीवन पूर्व का सा नहीं रहता। उनमें ब्रह्मतेज विराजमान रहता है।

"प्राज्ञ" - प्रज्ञा जिसमें होती है, वह प्राज्ञ है। ज्ञानी है। ऐसे प्राज्ञों का सत्कार करना, उनकी पूजा करना एक प्रकार की तपस्या ही है।

"शौचम्" - मन की शुद्धि, शरीर की शुद्धि एवं आसपास की शुद्धि, तीनों आवश्यक हैं। गन्दगी में रहनेवालों का स्वास्थ्य ही नहीं बिगडता, बल्कि विचार भी गन्दे बनते हैं। शरीर मलिन हो, तो स्वास्थ्य बिगड ही जाएगा। मन मलिन हो, तो उन्हें दैवी मार्ग दिखाई ही नहीं देगा। अतः साधक को सचेत होकर शुचिता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। झाड़ू देकर शुद्ध करके आसपास को साफ रखना चाहिए। स्नान एवं सात्विक आहार के द्वारा शरीर को साफ रखना चाहिए। मलिन संकल्पों के त्याग तथा दैवी संकल्पों के ग्रहण के द्वारा मन को साफ रखना चाहिए।

"आर्जवम्" - ऋजुता। कपट, कुटिलता एवं षडयंत्र रहित रहना ही ऋजु् रहना है। सांप की तरह वक्रगतिवालों में विष रहता है। ऐसे विष एवं वक्रगति से लोगों को दूर रहना चाहिए। विचार, वाणी एवं क्रिया सभी में एक ही प्रकार की सद्भावना भरी रहनी चाहिए।

"ब्रह्मचर्यम्" - भगवान के कथन के अनुसार ब्रह्मचर्य एक महान् तपस्या है। ब्रह्मचर्य का मतलब है- विषयवासना, काम भावना तथा काम सम्बन्धी व्यवहार से दूर रहना और ब्रह्म का चिन्तन करना। सभी साधनाओं की बुनियाद है ब्रह्मचर्य। इसीलिए भगवानने गीता में ब्रह्मचर्य का समर्थन किया। इस बारे में साधक श्रद्धा न दिखावे, तो वह आध्यात्मिकमार्ग में पिछड जाएगा।

"अहिंसा" - शरीर, वाणी तथा मन से अन्य किसी भी प्राणी का अपकार न करना, अज्ञान हटा कर ज्ञान का अर्जन करना और आत्मा को हिंसित होने न देना अहिंसा है। समझना चाहिए कि यह अहिंसा का महोन्नत रूप है।

प्रश्न - शारीरिक तपस्या क्या है ?

उत्तर - (१) देवता, गुरु, ब्रह्मनिष्ठ, प्राज्ञ एवं महात्मा ओं की पूजा करना। (२) बाह्य एवं आंतरिक शुचिता। (३) ऋजुता (४) ब्रह्मचर्य (५) अहिंसा, इनसे युक्त रहना ही शारीरिक तपस्या है।

१५. अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

शब्दार्थ - अनुद्वेगकरम् = उद्वेग न करने वाला। सत्यम् = सत्य। प्रियहितम् च =प्रिय और हितकारक। वाक्यम् = वाक्य। स्वाध्यायाभ्यसनम् च एव = वेदादि का अध्ययन, उपनिषत्, भगवद्गीता, भारत, भागवत एवं रामयण आदि का अध्ययन करना। यत् = जो है। (तत् = वह)। वाङ्मयं = वाणी सम्बन्धी। तपः = तप। उच्यते = कहा जाता है।

भावार्थ - जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रों के पठन का एवं परमेश्वर के-जप का अभ्यास है - वही वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है।

व्याख्या - "अनुद्वेगकरंवाक्यम्" - मुंह से जो वाक्य निकले, वह दूसरों के मन को न दुःखावे, वह सत्य पर निर्भर रहे। सत्यवाक् होने पर भी वह परुष एवं अप्रिय न हो, यह जरूरी है। दूसरों को वह प्रिय लगे, हितैषी लगे, यह जरूरी है।

"स्वाध्यायाभ्यसनम्" - अभ्यसनम् कहने से स्पष्ट होता है कि

स्वाध्ययन ज्यादा करना चाहिए। हर दिन उसके लिए साधना करनी चाहिए। कुछे लोग कहा करते हैं कि ध्यान प्रधान शास्त्राभ्यास किसलिए ? भगवानने इस सन्देह को यहाँ निवृत्त कर दिया। यद्यपि ध्यान प्रधान है तथापि अवकाश के समय स्वाध्याय भी आवश्यक है। इससे ध्यान को सहायता मिलती है।

प्रश्न – वाचिक तपस्या क्या है ?

उत्तर – (१) दूसरों के मन को न दुखाने वाली, सत्य पर निर्भर प्रिय लगनेवाली तथा हितकारी वाणी। (२) वेद आदि का अध्ययन वाचिक तपस्या के अन्तर्गत है।

सम्बन्ध – अब मनसम्बन्धी तप का स्वरूप बतलाते हैं -

१६. मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

शब्दार्थ - मनः प्रसादः= मन की प्रसन्नता। सौम्यत्वम् = शान्त भाव। मौनम् = भगवच्चिन्तन करने का स्वभाव। आत्मविनिग्रहः = मन का निग्रह। भावसंशुद्धिः = अन्तःकरण के भावों की पवित्रता। इति एतत् = इस प्रकार यह। मानसम् = मन सम्बन्धी। तपः = तप। उच्यते = कहा जाता है।

भावार्थ – मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण के भावों की भलीभाँति पवित्रता- इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।

व्याख्या - "मनःप्रसादः" - मन को निर्मल रखना चाहिए। मन रजोगुण या तमोगुण के संपर्क में रहे, तो चंचल रहेगा। अतः सात्विक गुण से संपर्क स्थापित कर मन को निर्मल रखना चाहिए। भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य आदि के द्वारा मन की मलिनता को दूर कर चित्त को निर्मल बना लेना चाहिए। यही मनः प्रसाद है। मानसिक तपस्या है। जो ऐसा मनः प्रसाद पाएगा, वह फिर से बन्धन में नहीं बंधेगा।

"सौम्यत्वम्" - अन्तःकरण की प्रवृत्ति चेहरे पर प्रतिबिंबित होती है। चेहरा सौम्य एवं विकसित रहे, तो समझना चाहिए कि उसकी चित्तवृत्ति निर्मल एवं निश्चल है। सौम्य है। यह स्थिति मानसिक तपस्या ही है।

"मौनम्" - यह दो प्रकार का है (१) वाङ्मौन (२) मनोमौन। यहाँ मौन का उल्लेख मानसिक तपस्या के अंतर्गत किया गया। अतः मानसिक मौन ही यहाँ सूचित है। केवल वाङ्मौन मनोमौन का सहायक बनेगा। अतःउसका भी अभ्यास करना चाहिए। केवल वाङ्मौन मात्र काफी नहीं है। क्योंकि ऐसी हालत में मन कई संकल्प विकल्पों से भरा रहेगा। इसलिए वाङ्मौन के साथ मनोमौन भी अत्यंत आवश्यक है। इन दोनों के लिए साधक को प्रयत्न करना चाहिए।

"आत्मविनिग्रहः" - यहाँ आत्मा का मतलब मन तथा इन्द्रिय है। 'निग्रह' न कहकर 'विनिग्रह' कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि सामान्य निग्रह काफी नहीं है, इन्द्रिय एवं मन को भलीभांति वश में रखना चाहिए। इसी तरह "भावसंशुद्धि" कहा गया। शुद्धि न कहकर संशुद्धि कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि भाव में परिपूर्ण शुद्धता होनी चाहिए। अर्थात् आत्मानुभूति के लिए भावों की निर्मलता अत्यावश्यक है। निर्मल जल में सूर्य उज्वल दीखता है। इसी प्रकार शुद्ध हृदय में आत्मा रूपी सूर्य अच्छी तरह भासित होता है। इसलिए मन में, भावों में किसी प्रकार का दृश्य सम्बन्धी दोष एवं अपवित्रता न रहे, यह बहुत जरूरी है।इस विषय में साधकों को बहुत सतर्क रहना चाहिए।

प्रश्न - मानसिक तपस्या क्या है ?

उत्तर - (१) मन का निर्मल रहना।(२) चेहरे पर प्रसन्नता का रहना।

(३) मौन रहना। ये तीनों मानसिक तपस्या हैं।

सम्बन्ध - अब सात्त्विक तप के लक्षण बतलाते हैं -

१७. श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।

शब्दार्थ - अफलाकाङ्क्षिभिः = फल को न चाहनेवाले। युक्तैः= निश्चल चित्तवाले। नरैः = नरों द्वारा। परया = अधिक। श्रद्धया = श्रद्धा से। तप्तम् = किये हुए। तत् त्रिविधम् =उन तीन प्रकार के। तपः = तप को। सात्विकम् = सात्विक। परिचक्षते = कहते हैं।

भावार्थ - फल को न चाहनेवाले योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकार के तप को सात्त्विक कहते हैं।

व्याख्या - 'श्रद्धया' शब्द के साथ 'परया' विशेषण को जोडने से स्पष्ट होता है कि सामान्य श्रद्धा आवश्यक है। क्योंकि बीच में अवरोध हो, तो सामान्य श्रद्धा विचलित हो जाएगी। इसलिए पक्की एवं दृढ श्रद्धा ही माया को पार कर सकती है।

"नरैः" - यहाँ नर कहा गया। जात-पांत तथा वर्ग-वर्ण का उल्लेख नहीं किया गया। अतः सभी मनुष्य पारमार्थिक लक्ष्य की प्राप्ति अपनी अनन्य साधना के बल पर कर सकते हैं।

"युक्तैः" - भगवान से आत्मतत्व एवं पारमार्थिक साधना के द्वारा युक्त लोग इस श्रेणी में आते हैं। अतः साधकों को सांसारिक माया जाल से छूटकर भगवान के ध्यान में लीन रहना चाहिए।

इससे स्पष्ट होता है कि सात्विक तपस्या करनावालों को तीन सद्गुणों से युक्त होना चाहिए। (१) श्रद्धा से युक्त हों (२) फल की अपेक्षा किये बिना कर्म करें (३) ऐसे उत्तम गुणों से युक्त तपस्या सात्विक कहलाती है।

प्रश्न - सात्विक तपस्या क्या है ?

उत्तर – (१) जो अत्यंत श्रद्धा से की जाती है। (२) जो फल की अपेक्षा के बिना की जाती है। (३) जो निश्चल चित्त से की जाती है, वह सात्विक तपस्या कहलाती है।

१८. सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥

शब्दार्थ – सत्कारमानपूजार्थम् = जो तप सत्कार, मान और पूजार्थ। दम्भेन च एव=दम्भ से। यत् = जो। तपः = तप। क्रियते = किया जाता है। तत् = वह। चलम् = अस्थिर। अध्रुवम् =अनिश्चित फलवाला। राजस् = राजस तप। इह =इस संसार में। प्रोक्तम् = कहा गया।

भावार्थ – जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये तथा अन्य किसी स्वार्थ के लिये भी स्वभाव से या पाखण्ड से किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है।

'अनिश्चित फलवाला' उसको कहते हैं, जिसका फल होने न होनेमें शङ्का हो।

व्याख्या – कुछ लोग दूसरों से सत्कार पाने की आशा लेकर तपस्या करते हैं। वह सच्चा तप नहीं है, दाम्भिक है। इसलिए उसका फल भी चंचल एवं अस्थिर रहेगा। अतः विज्ञ पुरुषों को ऐसी तपस्या से दूर रहना चाहिए।

प्रश्न – राजस तप कैसा है ?

उत्तर – सत्कार पाने के लिए जो तप किया जाता है, वह राजस है।

प्रश्न – उसका फल कैसा होगा ? उसका स्वभाव कैसा होगा ?

उत्तर – अस्थिर और अनिश्चित फल मिलेगा। स्वभाव चंचल एवं अनिश्चित रहेगा।

सम्बन्ध - अब तामस तप के लक्षण बतलाते हैं, जो कि सर्वथा त्याज्य हैं -

१९. मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

शब्दार्थ - यत् तपः = जो तप। मूढ ग्राहेण = मूढतापूर्ण हठ से।आत्मनः पीडया = अपने शरीर को पीडित करने से। परस्य =दूसरों का। उत्सादनार्थम् वा = नाश करने के निमित्त। क्रियते = किया जाता है। तत् =वह। तामसम् = तामस तप। उदाहृतम् =कहा गया।

भावार्थ - जो तप मूढतापूर्वक हठ से, मन, वाणी और शरीर की पीड़ा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।

व्याख्या - "मूढग्राहेण" -(मूर्खहठ के साथ)- हठ ठीक है, पर वह विवेक से युक्त होने पर ही सत्फल मिलेगा। मूर्ख हठ से प्रयोजन कुछ नहीं होगा।

"आत्मनोयत्पीडया" - कुछ लोग मूर्खता के साथ शुष्क तर्क के द्वारा, शरीर को पीडा पहुँचाकर तपस्या करते हैं। तप और उपवास ठीक ही हैं, मगर विवेक के साथ वे अमल में लाये जायँ, तो बडा प्रयोजन होगा।

यहाँ बताया गया कि विवेक के न होने के कारण ही कुछ लोग अपनी तपस्या का उपयोग दुसरों के नाश के लिए करते हैं। इसका कारण मूर्खता ही है। इसलिए लोगों को चाहिए कि वे मूर्खता, राजस एवं तामस तपस्या का आश्रय न लें अपने हठ एवं आग्रह को सन्मार्ग पर चलावें और भगवान का आश्रय लें, अपना जीवन धन्य बनावें।

इस श्लोक के द्वारा निम्नलिखित विषय स्पष्ट होते हैं। (१) मूर्खहठ उपयुक्त नहीं है। (२) शुष्क उपवासों के द्वारा अपने शरीर को पीडा पहुँचाना ठीक नहीं है।(३) अन्य प्राणी को सताना नहीं चाहिए।

प्रश्न – तामस तपस्या कैसी है ?

उत्तर – मूर्खता के साथ हठ करके अपने शरीर को पीडा पहँचाना और दूसरों का नाश करने के लिए तपस्या करना तामस तपस्या के अंतर्गत है।

सम्बन्ध – तीन प्रकार के तापों का लक्षण बताकर अब दान के तीन भेद बतलाने के लिये पहले सात्त्विक दान के लक्षण बताते हैं –

२०. दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।

शब्दार्थ – दातव्यम् इति = दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भाव से। यत् दानम् = जो दान। देशे= देश। काले च = काल। पात्रे च = पात्र के (प्राप्त होने पर)। अनुपकारिणे = दिया जाता है। तत् दानम् = वह दान। सात्विकम् = सात्विक। स्मृतम = कहा गया।

भावार्थ – दान देना ही कर्तव्य है – ऐसे भावसे जो दान देश काल और पात्र के प्राप्त होने पर उपकार न करनेवाले के प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।

व्याख्या – "दातव्यमिति" – हर व्यक्ति को अपना कर्तव्य समझ कर दान करना चाहिए। किसी दूसरे को तृप्त करने चाहिए या पतिफल की अपेक्षा से दान नहीं करना चाहिए। कोई पूछे तो दाती को जवाब देना चाहिए कि यह मेरा कर्तव्य है। मुझे दान करना ही चाहिए। इसीलिए दान कररहा हूँ। वास्तव में त्याग तथा दान करना मेरे ही हित में है।

"अनुपकारिणे" - इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्युपकार न कर सकनेवालों, गरीबों, असमर्थों, विकलांगों तथा दरिद्रनारायणों को दान करना उत्तम कार्य है।

"देशे" - का मतलब है कि पुण्य क्षेत्रों में, तीर्थों, पवित्र आश्रमों में तथा दैवी गन्ध से युक्त किसी भी प्रदेश में। 'काले' का मतलब है ग्रहण या किसी पुण्य कार्य का संदर्भ। 'पात्रे' का मतलब है, योग्य को। बडोंने कहा है कि पात्रता देखकर दान करना चाहिए। अपात्र को दान देने से सत्फल नहीं मिलेगा।

प्रश्न - सात्विक दान क्या है ?

उत्तर - 'दान करना ही चाहिए' ऐसा निश्चय करके (१) प्रत्युपकार न कर सकनेवालों, दीनों, निस्सहायों को (२) देश, काल एवं पात्र को पहचान कर किया ज़ानेवाला दान सात्विक दान कहा जाता है।

सम्बन्ध - अब राजस दान के लक्षण बतलाते हैं-

२१. यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥

शब्दार्थ - प्रत्युपकारार्थः = प्रत्युपकार पाने के लिए। पुनः = फिर से। फलम् = फल को। उद्दिश्य वा =लक्ष्य न बनाकर। परिक्लिष्टम् च = मन क्लेश से। यत् तु = जो। दीयते = दीया जाता है। तत् दानम् = उस दान को। राजसम् = राजसदान। स्मृतम् = कहा गया।

भावार्थ - किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल को दृष्टि में रखकर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है।

व्याख्या - बताया गया कि प्रत्युपकार की भावना से जो दान किया जाता है, वह उत्तम दान नहीं है। लेन देन का मामला उत्तम नहीं होता। वह राजस दान होगा। फल की अपेक्षा से किया जानेवाला दान भी उत्तम नहीं है। निष्काम भाव तथा भगवान को समर्पण करने की भावना से किया जानेवाला दान ही श्रेष्ठ है। कुछ लोग दान करते समय व्यथित होते हैं। कुछ लोग जबर्दस्ती दान करते हैं। ऐसे दानों से सत्फल नहीं मिलता। अपना कर्तव्य मानकर निष्कामभाव से आनन्द के साथ जो दान किया जाता है, वही सात्विक दान है।

प्रश्न – राजस दान कैसा होता है ?

उत्तर – (१) प्रत्युपकार की भावना से, (२) फल की अपेक्षा करके, (३) मन में व्यथित होते हुए जो दान किया जाता है, वह राजस दान है।

सम्बन्ध – अब तामस दान के लक्षण बतालाते हैं –

२२. अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥

शब्दार्थ – अदेशकाले = अयोग्य देश काल में। अपात्रेभ्यः च = कुपात्र को। असत्कृतम् = बिना सत्कार के। अवज्ञातम् = तिरस्कार पूर्वक। यत् दानम् = जो दान। दीयते = दिया जाता है। तत् = वह। तामसम् = तामस दान। उदाहृतम् = कहा गया।

भावार्थ – जो दान बिना सत्कार के अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-काल में और कुपात्र के प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है।

व्याख्या – दान करते समय आदर की भावना रखनी चाहिए। तिरस्कार एवं अनादर की भावना से दान नहीं करना चाहिए। गालियाँ देते हुए दान नहीं करना चाहिए। यह तामस दान कहलाता है। ऐसे दान से कोई सत्फल नहीं मिलेगा। अश्रद्धा से दान नहीं करना चाहिए। सात्विक दान का ही आश्रय लेना चाहिए।

प्रश्न – तामसदान कैसा होता है ?

उत्तर – (१) देश, काल, पात्र पर ध्यन दिये बिना जो दान किया जाता है – (२) आदर सत्कार की भावना के बिना जो दान किया जाता है – (३) तिरस्कार भावना से जो दान किया जाता है, वह तामसदान है।

२३. ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्रह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

शब्दार्थ - ब्रह्मणः = परब्रह्म को। ॐइति = ऊँम् कह कर। तत् (इति) = तत् (कह कर)। सत् (इति) = सत् (कह कर)।त्रिविधः = तीन प्रकार के। निर्देशः = नामों का निर्णय। स्मृतः = कहा गया। तेन = उससे। ब्राह्मणाः = ब्राह्मण। वेदाः च =वेद। यज्ञाः च = यज्ञ। पुरा = पूर्वकाल में। विहिताः = रचे गए।

भावार्थ - ॐतत्, सत् -ऐसे तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा है उसीसे सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये।

व्याख्या - यद्यपि परमात्मा वास्तव में नाम रूप रहित हैं, तथापि भक्तोंने उनका ध्यान एवं चिन्तन करने के लिए उन्हें नाम निर्देशित किये। वे ॐतत् एवं सत् कहलाते हैं। इन नामों के चिन्तन के द्वारा लक्ष्यवस्तु परब्रह्म का चिन्तन भक्तलोग करते हैं। चूँकि वे परब्रह्म के बाचक हैं, अतः वे शक्तिवान एवं पवित्र बन गये हैं। वेद शास्त्रों में सर्वत्र इन प्रणव आदि मन्त्रों के बारे में विशेषरूप से कहा गया है।

"तस्यवाचकःप्रणवः" कहा गया कि उस परमात्मा का नाम ही ॐकार है। पतंजलि महर्षिने कहा कि "तज्जन स्तदर्थ भावनम्" उस नाम का जप करते हुए उसके अर्थ की भलीभांति भावना करनी चाहिए। कर्मानुष्ठान में दोष, लोप एवं विघ्न रह गये हों, तो उन तीन नामों के उच्चारण से वे दूर हो जाते हैं। इसीलिए कोई भी कार्य आरंभ करने के पूर्व बडे लोग प्रणव को उच्चरित करते हैं। सभी मंत्रों में प्रणव प्रथम है। इसीलिए हर मंत्र के आरंभ में प्रणव जोडा जाता है। 'ॐतत् सत्' मंत्र का जप करते समय उसका अर्थ भी अच्छी तरह समझकर परब्रह्म का स्मरण एवं चिन्तन करना चाहिए। तभी वह शक्तिवान बनेगा। कहा गया कि वेद तथा यज्ञ आदि उस प्रणव मंत्र के उच्चराण से ही रचे गए। इससे स्पष्ट होता है कि वेदों का मूल, उनका बीज ॐकार ही है। ज्ञात होता है कि वेदों का सार उस प्रणव मंत्र में निहित है। अतः प्रणव का उच्चारण कर उसके भाव का मनन करने से वेदशास्त्रों के पठन एवं उनके अर्थ का मनन हो जाता है।

"ॐतत् सत्" का और एक अर्थ भी है। ॐमाने परब्रह्म है। तत् माने

वह (परब्रह्म) एक ही है। सत् माने सद्वस्तु है। बाकी समस्त दृश्य जगत् मिथ्यावस्तु है। अतः इस "ॐतत् सत्" के उच्चारण से "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" वाला सर्व वेद सिद्धांत का सार प्रकट होता है। 'ॐतत् सत्' को उच्चरित करते हुए सद्वस्तु ब्रह्म को सत्य मानते हुए, मिथ्यावस्तु रूपी दृश्य जगत् को मित्था मानते हुए वैराग्य भाव को दृढ कर लेना चाहिए। 'ॐतत् सत्' के दो अर्थ निम्न प्रकार कहे जा सकते हैं।

१. ॐ = परब्रह्म (है)	१. तत् = वह
२. तत् = वह परब्रह्म	२. सत् = सद्वस्तु
३. सत् = सद्रूप है	३. ॐ = परब्रह्म।

प्रश्न – परब्रह्म के कितने नाम हैं ? वे क्या क्या हैं ?

उत्तर – तीन नाम हैं। (१) ओम् (२) तत् (३) सत्।

प्रश्न – उनकी महिमा क्या है ?

उत्तर – उन्हीं से आदिकाल में (१) ब्राह्मणों (२) वेदों तथा (३) यज्ञों का सृजन हुआ।

प्रश्न – वेद, यज्ञ – इनका मूल कया है ?

उत्तर – ओंकार ही परब्रह्म है। वही उनका मूल है।

सम्बन्ध – परमेश्वरके उपर्युक्त ॐ तत् और सत् – इन तीन नामों का यज्ञ, दान, तप आदि के साथ क्या सम्बन्ध है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर पहले 'ॐ'के प्रयोग की बात कहते हैं –

२४. तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

शब्दार्थ – तस्मात् = इसलिए। ब्रह्म वादिनाम् = वेदों को अच्छी तरह जाननेवालों के। विधानोक्ताः = शास्त्रों में बताये गए। यज्ञ दान तपः क्रियाः = यज्ञ,

दान, तप रूप क्रियाएँ। सततम् = हमेशा। ओम् इति = ओम् कह कर। उदाहृत्य = कहकर। प्रवर्तन्ते = प्रवर्तित होते हैं।

भावार्थ – इसलिये वेद-मन्त्रों का उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्रविधि से नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐइस परमात्मा के नाम का उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।

व्याख्या - 'ओम् तत् सत्' इन तीनों में से प्रथम 'ओम्' शब्द की महत्ता यहाँ भगवान बताते हैं। यह परब्रह्म का वाचक है। यह परम पवित्र तथा शक्तिवान है। इसलिए सभी वेदविद् अपने यज्ञ,तप तथा दान आदि के आरंभ में ओम् शब्द को उच्चरित करते हैं। इसके बाद ही वे शुभ कार्य शुरू करते हैं। इससे उन उन कर्मों के दोष, लोप आदि अपने आप नष्ट हो जाते हैं। तब वे कर्म पूर्णफल प्रदान करते हैं।

"सततम्" कहने से स्पष्ट होता है कि वे वेदविद् शुभ कार्यों के आरंभ में हमेशा ॐकार का उच्चारण अवश्य करते हैं। जिस प्रकार इंजन के चलने से उससे लगे सभी रेल डिब्बे चलते हैं। जिस प्रकार १ अंक के बाद शून्य जोडने से वे शून्य महान शक्ति शाली बनते हैं, उसी प्रकार आरंभ में ॐ प्रणव के उच्चारण से बाकी सभी मंत्र एवं क्रियाएं आदि चेतनामय और प्रतिभासंपन्न बनते हैं।

प्रश्न - ॐकार की महिमा बताओ ?

उत्तर - वेदविद् अपने यज्ञ, तप तथा दान के आरंभ में हमेशा ॐकार का उच्चारण करते हैं। उसके बाद ही उन शुभ कार्यों का आरंभ करते हैं।

सम्बन्ध – इस प्रकार ॐकार के प्रयोग की बात कहकर अब परमेश्वर के 'तत्' नाम के प्रयोग का वर्णन करते हैं -

२५. तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

शब्दार्थ – मोक्ष काङ्क्षिभिः = मुमुक्षुओं से। 'तत्' इति = तत् कहकर। फलम् = फल को। अनभिसन्धाय = न चाहकर। विविधाः = नानाविध। यज्ञ तपः क्रियाः = यज्ञ तप आदि कर्म। दान क्रियाः च = दान रूप कर्म। क्रियन्ते = किये जाते हैं।

भावार्थ – तत् अर्थात् 'तत्' नाम से कहे जानेवाले परमात्मा का ही यह सब है – इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकार की यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याण की इच्छावाले पुरुषों द्वारा की जाती हैं।

व्याख्या – यहाँ बताया गया कि मुमुक्षु फल की अपेक्षा किये बिना यज्ञ, दान तथा तप करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि निष्काम भावना से शुद्धचित्त होकर कर्म करने से ही वे मोक्ष के साधक बनते हैं। अतः मुमुक्षुओं को इसी भावना से यज्ञ, दान तथा तप आदि सत्कर्म करना चाहिए। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यज्ञ, तप तथा दान आदि सब सत्कर्म मोक्ष की प्राप्ति में सहायक बनना चाहिए। अब कुछ लोग कहते रहते हैं कि पुण्य कार्य भी मत करो। क्योंकि वे भी मनुष्य को बन्धनों में बांधते हैं।

लेकिन भगवानने गीता में ऐसा नहीं कहा। उन्होंने तो अच्छे कार्य करने पर बल दिया है। अतः भगवान के वचन पर विश्वास करके लोगों को फल की अपेक्षा किये बिना यज्ञ, तप तथा दान आदि सत्कर्म करना चाहिए। चित्तशुद्धि पाकर मोक्ष प्राप्त करना चाहिए।

प्रश्न – मोक्ष चाहनेवालों को कैसा व्यवहार करना चाहिए ?

उत्तर – तत् नामक ब्रह्मवाचक का उच्चारण कर तप, यज्ञ तथा दान आदि पुण्य कार्य करना चाहिए।

प्रश्न – उन कार्यों को वे कैसे करते हैं ?

उत्तर – फल की अपेक्षा किये बिना वे पुण्य कार्य करते हैं।

प्रश्न – मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग क्या है ?

उत्तर – 'ओम, तत् सत्' नामक परब्रह्म वाचक पवित्र नामों को उच्चरित कर तप, यज्ञ तथा दान आदि सत्कर्म फल की अपेक्षा किये बिना करना चाहिए। तब चित्त शुद्ध होगा। ज्ञान का उदय होगा। इससे मोक्ष प्राप्त होगा। यही मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है।

सम्बन्ध – इस प्रकार 'तत्' नाम के प्रयोग की बात कहकर अब परमेश्वर के 'सत्' नाम के प्रयोग की बात दो श्लोकों में कही जाती है –

२६. **सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।**
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥

शब्दार्थ – पार्थ = हे अर्जुन। सद्भावे = सत्य भाव में। साधु भावे च = श्रेष्ठ भाव में। सत् इति एतत् = सत् नामक यह परब्रह्म नाम। प्रयुज्यते = प्रयुक्त किया जाता है। तथा = उसी प्रकार। प्रशस्ते कर्मणि = उत्तम कर्म में भी। सत् शब्दः = सत् शब्द का। युज्यते = प्रयोग किया जाता है।

भावार्थ – 'सत्' -इस प्रकार परमात्मा का नाम सत्यभाव में और श्रेष्ठभाव में प्रयुक्त किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्म में भी 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

व्याख्या – परब्रह्म वाचक 'सत्' शब्द अस्तित्व एवं श्रेष्ठता दोनों को सूचित करता है। उन दोनों अर्थों को सूचित करने के लिए सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। (उदाहरण के लिए सत्+कर्म= अच्छा कर्म। सत्+भाव = अस्तित्व।)

प्रश्न – परब्रह्म वाचक 'सत्' शब्द का प्रयोग किन अर्थों में किया जाता है ?

उत्तर – (१) 'है' अर्थ में (२) 'अच्छा' अर्थ में प्रयुक्त होता है।

२७. **यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।**
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

शब्दार्थ - यज्ञे = यज्ञ में। तपिसि च = तप में। दाने च = दान में। स्थितिः = स्थिति है। सत् इति उच्यते = सत् कहलाता है। तदर्थीयं कर्म च एव = परमात्मा के लिए किया हुआ कर्म। सत् इति एव = सत् ही। अभिधीयते = कहा जाता है।

भावार्थ - तथा यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्मा के लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्-ऐसे कहा जाता है।

व्याख्या - गीता में भगवान यज्ञ, तप एवं दान को काफी प्रोत्साहित करते हैं। इस श्लोक में बताया गया कि उनकी स्थिति (अस्तित्व) ब्रह्मवाचक सत् ही है। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान उन पुण्य कार्यों को कितनी महत्ता देते हैं। "तदर्थीयं कर्म" अर्थात् भगवान की प्रीति के लिए किया जानेवाला कर्म सत् कहा गया। इससे ज्ञात होता है कि वह कर्म, ऊपर उल्लिखित यज्ञ कर्म चित्तशुद्धि के द्वारा सद्रूप ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं। इसीलिए उन पुण्य कर्मों तथा उनके अस्तित्व को ब्रह्मवाचक सत् कहा गया है। परन्तु कर्म भगवान से सम्बन्धित हो तो पवित्रता तथा महानता हासिल होती है। नहीं तो वह सामान्य कर्म रह जाता है। ब्रह्म रूप सत् नहीं कहलाता। अतः कर्म में कोई लोप नहीं है। दैवी बुद्धि से कर्म करें, तो वह सत् रूप हासिल करेगा। इस श्लोक में भगवानने कर्म में दैवत्व का बोध कराया है।

प्रश्न - यज्ञ, दान एवं तप की निष्ठा तथा भगवान की प्रीति के लिए किये जानेवाले कर्म को बडे लोग क्या कहते हैं ?

उत्तर - परब्रह्म वाचक सत् कहते हैं।

सम्बन्ध - इस प्रकार श्रद्धापूर्वक किये हुए शास्त्रविहित यज्ञ, तप, दान आदि कर्मों का महत्त्व बतलाया गया। उसे सुनकर यह जिज्ञासा होती है कि जो शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म बिना श्रद्धा के किये जाते हैं, उनका क्या फल होता है? इस पर भगवान् इस अध्याय का उपसंहार करते हुए कहते हैं -

२८. अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन। अश्रद्धायाः = अश्रद्धा से। हुतम् = हवन किया हुआ। दत्तम् = दान किया हुआ। तप्तं तपः च = तपा हुआ तप। कृतम् च = किया हुआ अन्य कर्म। यत् = जो है। (तत् = वह)। 'असत्' इति = असत्। उच्यते = कहा जाता है। तत् = वह। प्रेत्य = परलोक के फल के लिए। न = नहीं है। इह च = इहलोक के फल के लिए। न = नहीं है।

भावार्थ - हे अर्जुन! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है - वह समस्त 'असत्' - इस प्रकार कहा जाता है, इसलिये वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के बाद ही।

व्याख्या - परमार्थ की साधना तथा अन्यान्य विषयों में श्रद्धा का बडा महत्त्व है। श्रद्धा रहित कार्य हमेशा निष्फल होता है। इसीलिए भगवान गीता में श्रद्धा की महत्ता एवं उसकी आवश्यकता पर जोर देते रहे हैं। गीता की समाप्ति के इस अवसर पर भी भगवानने श्रद्धा पर जोर दिया है, यज्ञ हो, दान हो। श्रद्धा के बिना करें, तो वह व्यर्थ ही जाएगा।

श्रद्धा विहीन कार्य इस लोक में ही नहीं, परलोक में भी निष्फल ही होगा। रसोई बनाने के लिए सभी सामान प्रस्तुत है, मगर रसोई बनानेवाले को रसोई बनाने की बिल्कुल इच्छा नहीं हो तो जैसे काम बिगड जाता है, वैसे ही मुमुक्षुओं के हृदय में बाकी सभी गुण हों पर श्रद्धा न हो, तो सब व्यर्थ हो जाते हैं। श्रद्धारहित कार्य असत् होगा। परमार्थरूप प्राप्त नहीं करेगा। इहलोक एवं परलोक दोनों में जीव का हित नहीं करेगा। इस अश्रद्धा को दूर करना मुमुक्षु का कर्तव्य है। सभी कामों के साथ श्रद्धा को जोडना चाहिए। अपने सब कर्मों को

असत् न बनने देकर सत् बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी वह पारमार्थिक क्षेत्र में उन्नति कर सकेगा।

प्रश्न - श्रद्धा के बिना किये जानेवाले यज्ञ, तप एवं दान आदि कार्य कैसे फल देते हैं ?

उत्तर - सत्फल नहीं देगे। निष्फल बन जाएंगे। करना और न करना दोनों बराबर होंगे।

प्रश्न - क्या वे परलोक में ही सही सत्फल देंगे ?

उत्तर - नहीं। कहीं भी फलित नहीं होंगे।

प्रश्न - सारांश क्या है ?

उत्तर - हर व्यक्ति को श्रद्धा का आश्रय लेना चाहिए। दुगुने विश्वास के साथ श्रद्धा से अपने अपने आध्यात्मिकादि कार्य करना चाहिए।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥

यह उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र, श्रीकृष्णार्जुन संवाद रूपी श्रीभगवद्गीता का श्रद्धात्रयविभाग योग शीर्षक सत्रहवाँ अध्याय है।

ॐ तत् सत्

ॐ

श्रीम ् ्गवद्गीता

अथ अष्टादशोऽध्यायः

अठारहवाँ अध्याय

मोक्ष ्न्यास योगः

मोक्ष सन्या ्. योग

इस अध्याय का शीर्षक

मोक्ष सन्यास योग

१. मोक्ष गाने छुटकारा, बन्ध से छुटकारा। सांसारिक सुख-दुःखों तथा जनन-मरण आदि से छुटकारा। अर्थात् बन्ध मुक्ति। ऐसी बन्ध मुकित के द्वारा प्राप्त होनेवाला मोक्ष त्याग से ही मिलता है। अमृतोपनिषद् में "त्यागेनैक अमृतत्व मानशुः" कहा गया। त्याग एवं सन्यास दोनों एक ही हैं। त्याग (सन्यास) का मतलब है, दृश्य जगत् की भावना का परित्याग एवं सर्वसंग परित्याग। संसार, देह, मन इत्यादि समस्त दृश्य पदार्थों का संग त्यागकर मोक्षरूप एक मात्र परमात्मा का अर्थात् एकमात्र आत्मवस्तु की शरण लेनी चाहिए। जिस समय मनुष्य दृश्य सम्बन्धी भावना को त्याग देगा, उस समय वह आत्मा के रूप में बचा रहेगा। मोक्ष की स्थिति वही है। मतलब यह कि क्षेत्र को छोडने से क्षेत्रज्ञ बचा रहेगा। इस प्रकार इस अध्याय में बताया गया कि सन्यास से, त्याग से, सर्वदृश्य एवं वस्तुसंग के परित्याग से मोक्ष मिलेगा। अतः इस अध्याय का शीर्षक मोक्ष सन्यास योग रखा गया।

२. मोक्ष सन्यास का और एक अर्थ है। मोक्ष का अर्थ देव याने भगवान है।

सन्यास का अर्थ है, समस्त कर्मों को अर्पित करना। समस्त कर्मों तथा उन कर्मों के फलों का भगवान को समर्पित कर देना ही मोक्ष सन्यास कहा जा सकता है।

३. और एक अर्थ है - मोक्ष का सन्यास अर्थात् छोडना, माने मोक्ष सन्यास। प्रश्न उठता है कि हर व्यक्ति मोक्ष चाहता है, तो फिर मोक्ष छोडना क्या है ? उत्तर में बताया जाता है कि मोक्ष चाहनेवाले कौन हैं ? बन्धयुक्त व्यक्ति ही तो मुक्ति चाहते हैं। अर्थात् बद्ध व्यक्ति ही मुक्ति चाहता है। लेकिन जो साधक गीता के सत्रहवें अध्याय में बताये गये अखंड सन्देश को हृदयंगम करता है, वह बद्ध कैसे रह सकेगा ?आत्मा को जो जानता है, उसके लिए अब बन्ध कैसे होगा ?बन्ध ही नहीं, तो उनके लिए मोक्ष की बात कैसे होगी? उसी मुक्त स्थिति में जीव मोक्ष भाव को भी त्याग देगा। तब वह खुद मोक्ष रूप बनकर विलसित होगा। सत्रहवें अध्याय के ज्ञान को अच्छी तरह जाननेवाले साधक को भगवान ही मोक्ष प्रदान करेंगे। ऐसी हालत में मोक्ष सम्बन्धी संकल्प उसके लिए अनावश्यक है। तब वह मोक्ष संकल्प त्याग देगा। वही मोक्ष सन्यास है। १७वें अध्याय में जो विषय विस्तार से बताये गये, वे विषय इस अध्याय में भी संक्षेप में बताये गये। अगर कहीं कोई विषय छोड दिया गया हो, तो वह भी इस अध्याय में बताया गया। इसीलिए इस १७वें अध्याय को संक्षिप्त गीता या गीता सार कहते हैं।

४. अब तक १७ अध्याय समाप्त हुए। उनके नाम भी अलग-अलग रखे गये। जैसे ज्ञान योग, कर्मयोग तथा भक्तियोग आदि। ज्ञान के द्वारा भगवान में ऐकय (योग), कर्म के द्वारा भगवान में ऐक्य और भक्ति के द्वारा भगवान में ऐक्य को बतानेवाले हैं। इसी तरह इस अध्याय का नाम मोक्ष सन्यास योग रखा गया। इससे स्पष्ट होता है कि मोक्ष सन्यास नामक क्रिया के द्वारा भगवान के ऐक्य को प्राप्त करानेवाला योग।

१. सन्यास अर्थात् त्याग याने सर्वसंग परित्याग से मोक्ष प्राप्त होगा।

२. मोक्ष (मोक्षसम्बन्धी संकल्प) का भी सन्यास लो।

३. मोक्ष रूपी भगवान को सब कर्मों का सन्यास करो।

४. मोक्षप्रद या मोक्षरूपी सन्यास से भगवान में ऐक्य हो सकोगे। -

यह सारा विवरण इस अध्याय में बताया गया, इसलिए इस अध्याय का नाम मोक्ष सन्यास योग रखा गया।

इस अध्याय के प्रधान विषय

१. त्याग सम्बन्धी विवरण - (श्लोक १ से श्लोक १२ तक)।

२. सांख्य सिद्धांत के अनुसार कर्मों की स्थिति का कारण बताना और बताना कि आत्मा अकर्ता है - (श्लोक १३ से श्लोक १८ तक)।

३. "ज्ञान, कर्म, बुद्धि, धैर्य, सुख" इनके सात्विक, राजस एवं तामस रूप - (श्लोक १९ से श्लोक ४० तक)।

४. चार वर्णवालों के धर्म - (श्लोक ४१ से श्लोक ४८ तक)।

५. ब्रह्मसाक्षात्कार की सिद्धि के लिए उपाय एवं ज्ञाननिष्ठा का विवरण - (श्लोक ४९ से श्लोक ५५ तक)।

६. भक्ति सहित निष्काम कर्मयोग का वर्णन - (श्लोक ५६ से श्लोक ६० तक)।

७. भगवान की शरणागति एवं गीता सार संग्रह - (श्लोक ६१ से श्लोक ६६ तक)।

८. गीता की महिमा - (श्लोक ६७ से श्लोक ७३ तक)।

९. संजय के द्वारा गीता की संस्तुति - (श्लोक ७४ से श्लोक ७८ तक)।

सम्बन्ध - दूसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक से गीताके उपदेश का आरम्भ

हुआ। वहांसे आरम्भ करके तीसवें श्लोक तक भगवान्ने ज्ञानयोगका उपदेश दिया और प्रसङ्गवश क्षात्रधर्म की दृष्टि से युद्ध करने की कर्तव्यता का प्रतिपादन करके उनतालीसवें श्लोक से लेकर अध्याय की समाप्तिपर्यन्त कर्मयोग का उपदेश दिया। उसके बाद तीसरे अध्याय से सत्रहवें अध्याय तक कहीं ज्ञानयोग की दृष्टि से और कहीं कर्मयोग की दृष्टि से परमात्मा की प्राप्ति के बहुतसे साधन बतलाये। उन सब को सुनने के अनन्तर अब अर्जुन इस अठारहवें अध्याय में समस्त अध्यायों के उपदेश का सार जानने के उद्देश्य भगवान् के सामने संन्यास यानी ज्ञानयोग और त्याग यानी फलासक्ति के त्यागरूप कर्मयोग का तत्त्व भलीभाँति अलग-अलग जानने की इच्छा प्रकट करते हैं -

अर्जुन उवाच

१. संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले (प्रश्न किया)। महाबाहो = बडी भुजाओंवाले। हृषीकेश = इन्द्रियों के नियामक। केशिनिषूदन् = केशि नामक राक्षस का अन्त करनेवाले हे कृष्ण। सन्यासस्य = सन्यास के। त्यागस्य = त्याग के। तत्वम् =यथार्थ को। पृथक् =अलग रूप से। वेद्तुम्=जानने के लिए। इच्छामि = चाहता हूँ।

भावार्थ - अर्जुन बोले - हे महाबाहो! हे अन्तर्यामिन्! हे वासुदेव! मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ।

व्याख्या - गीता में कई अवसरों पर भगवानने सन्यास, त्याग शब्दों का प्रयोग किया। लेकिन उनका विवरण नहीं बताया। जैसे - (३-३०, ४-२०, ४-४१, ९-२८, १२-६, १२-११, १२-१२, १२-१६, १-२५) अर्जुनने उनके बारे में जानने के लिए भगवान से यह प्रश्न पूछा। उपनिषदों में सन्यास और त्याग दोनों मोक्ष के लिए बताये गए। (1. त्यागेनैके अमृतत्व मानशुः" -

२. सन्यास योगाद्यतयः शुद्ध सत्वाः - ऐसे वाक्य उपनिषदों में बहुत हैं।) इस श्लोक में अर्जुनने तीन विशेषणों द्वारा भगवान की संस्तुति की। इस स्तुति के द्वारा अपनी भक्ति भावना प्रकट की। इस प्रकार विनम्र होकर, पूर्ण भक्ति भावना से युक्त होकर प्रश्न करने को 'परिप्रश्न' कहते हैं। शिष्य को गुरु के यहाँ इसी तरह भक्ति एवं विनम्रता से बर्ताव करना चाहिए, इससे प्रसन्न होकर गुरु शिष्य पर ज्ञान की वर्षा करते हैं।

प्रश्न - अर्जुनने भगवान से क्या जानना चाहा ?

उत्तर - 'सन्यास और त्याग' इन दोनों का तत्व जानना चाहा।

सम्बन्ध - इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर भगवान् अपना निश्चय प्रकट करने के पहले संन्यास और त्याग के विषय में दो श्लोकों द्वारा अन्य विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत बतलाते हैं -

श्रीभगवानुवाच

२. काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

शब्दार्थ - श्री भगवानुवाच = श्री भगवान बोले। काम्यानाम् = फल की अपेक्षा से किये जानेवाले। कर्माणाम् = कर्मों के। न्यासम् = छोडने को। सन्यासम् = सन्यास। कवयः =पंडित। विदुः = समझते हैं। सर्वकर्मफल त्यागम् = समस्त कर्मों के फल को त्यागना। त्यागम् = त्याग। विचक्षणाः = पंडित। प्राहुः = कहते हैं।

भावार्थ - श्रीभगवान् बोले - कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मों को त्याग के संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं।

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति के लिये तथा रोग-सङ्कटादि की निवृत्ति के लिये जो यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म किये जाते हैं, उनका नाम 'काम्यकर्म'' है।

व्याख्या - गीता में बताये गये सन्यास का मतलब सब कुछ छोड छाड कर जंगलों में जाना नहीं है। कहा गया कि काम्यकर्म छोडना ही सन्यास है। ऐसे सन्यास को गृहस्थ भी अमल में लासकते हैं। निष्काम कर्म करनेवाला एवं काम्य कर्म त्यागनेवाला सन्यासी ही है। इसी प्रकार समस्त कर्मों के फल को त्यागनेवाला किसी भी आश्रम में क्यों न रहे, त्यागी ही है।

प्रश्न - सन्यास माने क्या है ?

उत्तर - काम्य कर्म त्यागना ही सन्यास है।

प्रश्न - त्याग माने क्या है।

उत्तर - समस्त कर्मों के फल त्यागना ही त्याग है।

३. त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।

शब्दार्थ - एके =कुछ। मनीषिणः = बुद्धिमान। दोषवत् = दोषयुक्त। कर्म =कर्म। त्याज्यम् = छोडने योग्य है। इति =ऐसा। प्राहुः = कहते हैं। अपरे=और कुछ। यज्ञ दान तपः कर्म = यज्ञ, दान, तप रूपी कर्म। न त्याज्यम् इति च = त्यागने योग्य नहीं है। (प्राहुः = कहते हैं)।

भावार्थ - कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागने के योग्य हैं और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं।

व्याख्या - कुछ लोगों का मत है कि चूंकि कर्म शरीर, इन्द्रिय एवं मन से सम्बन्धित हैं, ये इन्द्रिय आदि भ्रांतिजन्य हैं। आत्मा कर्म का साक्षी है, अतः कर्म पूर्ण रूप से छोड दें, तो जीव का चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। इसलिए यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं। इस प्रकर जनता में प्रचलित कर्म सम्बन्धी विभिन्न मत भगवानने इस श्लोक में प्रकट किये। अगले श्लोकमें वे अपना मत व्यक्त करेंगे।

प्रश्न - कर्म के बारे में कुछ लोगों के मत क्या हैं ?

उत्तर - कुछ लोगों का मत है कि कर्म को दोष की तरह त्यागना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि यज्ञ, दान आदि कर्म त्यागना नहीं चाहिए।

सम्बन्ध - इस प्रकार संन्यास और त्याग के विषयों में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अब भगवान् त्याग के विषय में अपना निश्चय बतलाना आरम्भ करते हैं -

४. निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥

शब्दार्थ - भरतसत्तम = भरतवंश के उत्तम हे अर्जुन। तत्रत्यागे =उस कर्मत्याग में । मे = मेरा। निश्चयम् = निश्चय। श्रृणु = सुनो। पुरुषव्याघ्र = पुरुषश्रेष्ठ हे अर्जुन। त्यागः = त्याग। त्रिविधः =तीन प्रकार का। संप्रकीर्तितः हि = कहा गया है।

भावार्थ - हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! संन्यास और त्याग, इन दोनों से पहले त्याग के विषय में तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का कहा गया है।

व्याख्या - दो मत हैं (१) कर्मों को बिल्कुल छोड देना चाहिए। (२) यज्ञ, तप तथा दान आदि कर्मों को छोडना नहीं चाहिए। इन दोनों मतों को स्पष्ट कर अब भगवान अपना निर्णय सुनारहे हैं।

"निश्चयं श्रृणु मे" - इस बारे में भगवान अपना निश्चित मत बताते हैं। परमात्मा का मत स्थिर एवं निश्चित रहता है। ऐसे भगवान जब कहते हैं कि मेरा मत सुनो। ऐसी हालत में परमात्मा का मत सुनना ही नहीं, उसे अमल में लाना हर जीव का कर्तव्य है।

प्रश्न – भगवानने त्याग के कितने प्रकार बताये ?

उत्तर - तीन प्रकार बताये।

५. यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

शब्दार्थ - यज्ञ दान तपः कर्म = यज्ञ, दान, तप रूप कर्म। न त्याज्यम् = त्यागने के योग्य नहीं है। कार्यम् एव = करने योग्य बनता है। यज्ञः = यज्ञ। दानम् = दान। तपः च एव = तप को। मनीषिणाम् = बुद्धिमानों को। पावनानि = पवित्र करनेवाले हैं।

भावार्थ- यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप - ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करनेवाले हैं।

वह मनुष्य 'बुद्धिमान्' है, जो फल और आसक्ति को त्याग कर केवल भगवदर्थ कर्म करता है।

व्याख्या - इस श्लोक में भगवान अपना निर्णय बताते हैं। (१) न त्याज्यम् = तप, यज्ञ, दान आदि कर्म नहीं छोडना चाहिए। (२) कार्य मेव तत्= उन्हें अवश्य करना चाहिए।

"पुण्यकर्म छोडना नहीं चाहिए" इस वाक्य में ही "उन कर्मों को करना चाहिए" यह अर्थ भी निहित हैं। फिर भगवानने कहा कि उन्हें अवश्य करना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान सत्कर्म करने पर कितना जोर

देते हैं। कुछ लोग पुण्यकर्म करनेवालों को यह कहकर रोकते हैं कि पुण्य कर्म करने से फिर जन्म लेना पडेगा, अतः मत करो।" यह बडा अन्याय है। क्योंकि ऐसा करना भगवान के मत के विरुद्ध है। भगवानने शुरू से गीतामें पुण्यकर्म करने पर बडा जोर दिया। इस श्लोक में अपना मत स्पष्ट बता दिया कि पुण्यकर्म करना ही चाहिए। अतः यज्ञ,तप,दान आदि सत्कर्म निष्काम भाव से करना चाहिए। इससे चित्त शुद्ध होगा। शुद्ध हृदय में आत्मज्ञान का उदय होगा। आत्मज्ञान से मोक्ष मिलेगा। इस प्रकार यज्ञ आदि कर्म मोक्षदायक ही होते हैं। अतः विज्ञपुरुषों को उन्हें कभी छोडना नहीं चाहिए।

"पावनानि" कहने से स्पष्ट होता है कि यज्ञ, तप, दान आदि पावन कर्म हैं। यदि वे अपवित्र होते, करने के योग्य न होते, तो भगवान "पावनानि" नहीं कहते।

"मनीषिणाम्" - अर्थात् अक्लमन्दों को, बुद्धिमानों को अर्थात् फल की अपेक्षा न करनेवालों को, यही अर्थ है। फल की आशा लेकर कर्म करनेवाले बुद्धिमान नहीं हैं। अतः वे मनीषी नहीं हैं। यहाँ ज्ञान का अर्थ ज्ञानयज्ञ है। स्वाध्याय आदि चित्त को शुद्ध करनेवाले विविध यज्ञ हैं।

प्रश्न - यज्ञ, तप, दान आदि कर्म करना चाहिए या नहीं ?

उत्तर - अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न - क्यों ?

उत्तर - क्योंकि वे लोगों को पवित्र बनाते हैं। उनका चित्त शुद्ध करते हैं।

प्रश्न - किस प्रकार उन्हें आचरण में लाना चाहिए ?

उत्तर - फल की अपेक्षा न करके, निष्काम भाव से आचरण में लाना चाहिए।

६. एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

शब्दार्थ -पार्थ = हे अर्जुन। एतानि = आसक्ति को। फलानि च = फलों को। त्यक्त्वा = छोडकर। कर्तव्यानि = करने योग्य। इति = ऐसा। मे = मेरा। निश्चितम् = निश्चित। उत्तमम् = उत्तम। मतम् =मत है।

भावार्थ - इसलिये हे पार्थ ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों को तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों को आसक्ति और फलों का त्याग करके अवश्य करना चाहिये। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है।

व्याख्या - इस श्लोक में भगवानने बताया कि यज्ञ, दान एवं तप कैसे करना चाहिए ? यहाँ कहा गया कि संग रहित होकर, फलों का त्याग कर करना चाहिए। नहीं तो कर्मों की पवित्रता कम होजाती है। वास्तव में कर्मों में दोष नहीं है, मगर संग भाव तथा अपेक्षा के साथ वे कर्म करें, तो उनमें दोष आ जाता है। अतः मुमुक्षुओं को निष्काम भाव से संगरहित होकर ये सत्कर्म करना चाहिए। क्योंकि यह भगवान श्रीकृष्ण का निर्णय है। उनका आदेश है। अतः विज्ञ पुरुषों का यह कर्तव्य है कि वे भगवान के निर्णय को आचरण में लावें और अपना जीवन धन्य बना लें।

प्रश्न- यज्ञ, दान आदि कार्य कैसे करना चाहिए ?

उत्तर - संगरहित होकर फल की अपेक्षा किये बिना करना चाहिए।

प्रश्न - यह मत किसका है ? कैसा है ?

उत्तर - यह मत भगवान का है। सर्वश्रेष्ठ है।

सम्बन्ध - इस प्रकार अपना सुनिश्चित मत बतलाकर अब भगवान् शास्त्रों में कहे हुए तामस, राजस और सात्त्विक इन तीन प्रकार के त्याग वास्तविक त्याग नहीं हैं, अतः: वे करनेयोग्य नहीं है - यह बात समझानेके लिये तथा अपने मत की शास्त्रों के साथ एकवाक्यता दिखलाने के लिये तीन श्लोकों में क्रम से तीन प्रकार के त्यागों के लक्षण बतलाते हुए पहले निकृष्ट कोटि के तामस त्याग के लक्षण बतलाते हैं -

७. **नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।**
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥

शब्दार्थ - नियतस्य = नियत। कर्मणः = कर्म का। सन्यासः तु = त्याग। न उपपद्यते = उचित नहीं है। मोहात् = मोह से। तस्य = उस कर्म का। परित्यागः = परित्याग। तामसः = तामस त्याग। परिकीर्तितः =कहा गया।

भावार्थ - (निषिद्ध और काम्य कर्मों का तो स्वरूप से त्याग करना उचित ही है) परन्तु नियतकर्म का स्वरूप से त्याग उचित नहीं है। इसलिये मोह के कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है।

व्याख्या - शास्त्र सम्मत कार्य करना चाहिए। उन्हें छोडना नहीं चाहिए। शास्त्र सम्मत कार्य जीव की आध्यात्मिक, नैतिक उन्नति में सहायक होते हैं, अतः उन्हें छोडना नहीं चाहिए। उन्हें छोडना अविवेक ही होगा। इसीलिए यहाँ "मोहात्" कहा गया। जब जीव मोह एवं अज्ञान से प्रभावित होता है, तब अपने कर्तव्य एवं धर्म का वह पालन नहीं करता। अतः विवेक का आश्रय लेकर शास्त्र सम्मत कार्य करना चाहिए। अज्ञान और आलस्य आदि के कारण उन्हें त्यागना तामसत्याग माना जाएगा। यहाँ ध्यान देने की एक बात है। पहले जब यज्ञ, दान एवं तप के बारे में कहा गया, तब पहले सात्विक, फिर राजस, इसके बाद तामस के बारे में कहा गया।

लेकिन अब इस एक त्याग के बारे में कहते हुए पहले तामस, फिर राजस, इसके बाद सात्विक के बारे में कहा गया। संभव है तामसी एवं राजसी लोगों के तत्वों का खंडन करने के उद्देश्य से भगवानने ऐसा किया हो।

प्रश्न - तामस त्याग कैसा होता है ?

उत्तर - शास्त्र सम्मत यज्ञ, दान, तप आदि कर्म छोडना नहीं चाहिए। उन्हें छोडना तामस त्याग कहलाता है।

प्रश्न – किस कारण से लोग नियत कर्म छोडते हैं ?

उत्तर – अविवेक एवं अज्ञान के कारण लोग नियत कर्म छोडते हैं ।

प्रश्न – शास्त्र सम्मत कर्म छोडनेवालों के बारे में कैसा निश्चय कर सकते हैं ?

उत्तर – उन्हें अविवेकी, मोहित मान सकते हैं ।

सम्बन्ध– तामस त्याग का निरूपण करके अब राजस त्याग के लक्षण बतलाते हैं -

८. दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।।

शब्दार्थ - (यः = जो) । यत् कर्म = जिस कर्म को । काय क्लेश भयात् = शारीरिक श्रम के भय से । दुःखम् इति एव = दुःख दायक समझ कर । त्याजेत् =छोड देता है । सः=वह । राजसम्=राजस । त्यागम् = त्याग । कृत्वा = करके । त्याग फलम् = त्याग का फल । न लभेत् एव = पाता ही नहीं ।

भावार्थ - जो कुछ कर्म है, वह सब दुःखरूप ही है - ऐसा समझ कर यदि कोई शारीरिक क्लेश के भय से कर्तव्य-कर्मों का त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्याग के फल को किसी प्रकार भी नहीं पाता ।

व्याख्या - तामस त्यागी अज्ञान में पडकर नियत कर्म छोड देता है । राजसत्यागी मुश्किल समझकर उन्हें नहीं करता । अर्थात् समझ कर उन्हें नहीं करता । अर्थात् आलसी बनता है । उत्तम सुख प्राप्त करानेवाले कर्म आरंभ में मुश्किल लगते हैं । परन्तु अन्त में अपार सुख पहुंचाते हैं । राजस त्यागी उन्हें छोड देता है । बिल्कुल श्रम नहीं करता । ब्रह्म मुहूर्त में जागना, शीतल जल से स्नान करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना आदि कार्य आरंभ में मुश्किल लग सकते हैं । परन्तु वे अन्त में अपार आनन्द प्राप्त कराते हैं । राजस त्यागी उन्हें नहीं करता, छोड देता है । अतः उसे त्याग का फल नहीं मिलता । क्योंकि त्याग

का मतलब कर्म त्याग नहीं, संगत्याग है। पर वे कर्म ही छोड देते हैं। इस प्रकार राजसी एवं तामसी अलग अलग कारणों से नियत कर्म नहीं करते, उन्हें छोड देते हैं। इसलिए उनके फलों से वंचित रह जाते हैं।

प्रश्न – राजस त्याग का लक्षण क्या है ?

उत्तर – मुश्किल समझ कर कर्म करना ही छोड देना राजस त्याग है।

प्रश्न – इससे कौन सा नुकसान होता है ?

उत्तर – वह त्याग के फल से वंचित रह जाता है।

९. कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

शब्दार्थ – अर्जुन = हे अर्जुन। नियतम् = शास्त्रों के द्वारा नियत। यत् कर्म = जो कर्म। कार्यम इति एव = कर्म करना कर्तव्य (समझकर)। सङ्गम् = आसक्ति। फलं च एव = फल को भी। त्यकत्वा =छोडकर। क्रियते = किया जाता है। सः त्यागः = वह त्याग। सात्विकः = सात्विक। मतः = माना गया है।

भावार्थ – हे अर्जुन ! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है – इसी भाव से आसक्ति और फल का त्याग करके किया जाता है – वही सात्त्विक त्याग माना गया है।

व्याख्या – त्याग माने संगत्याग, फल त्याग ही है। कर्मत्याग नहीं है। यह बात इस श्लोक से अच्छी तरह स्पष्ट होती है। 'कार्यम्' कहनेसे स्पष्ट होता है कि शास्त्र नियतकर्म मनुष्य को अवश्य करना चाहिए। शास्त्र न जानने के कारण तामसी कर्म नहीं करता। जानकर भी मुश्किल समझ कर राजसी कर्म नहीं करता। सत्वगुणवाला कष्टों से भयभीत न होकर, संग एवं फल की भावना को त्याग कर कर्म करता है। इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि सात्विक की ही पद्धति उत्तम है। उसीका त्याग उत्तम है। अतः उसीको अपनाना विज्ञ पुरुषों का कर्तव्य है।

प्रश्न - सात्विक त्याग का लक्षण क्या है ?

उत्तर - शास्त्र सम्मत कार्य, कर्तव्य मानकर, फल की अपेक्षा न करते हुए, संग की भावना छोडकर जो त्याग किया जाता है, वह सात्विक त्याग माना जाता है।

१०. न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

शब्दार्थ - सत्व समाविष्टः =सत्व गुण से युक्त। मेधावी = बुद्धिमान। छिन्न संशयः = संशय रहित। त्यागी =त्यागी। अकुशलम् कर्म = अकुशल कर्म से। न द्वेष्टि = द्वेष नहीं करता। कुशले = कुशल कर्म के प्रति। न अनुषज्जते = आसक्त नहीं होता।

भावार्थ - जो मनुष्य अकुशल कर्म से तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता - वह शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है।

व्याख्या - कहा गया कि कर्मफल त्यागनेवाला सत्गुणी द्वंद्वों के प्रति समबुद्धि रखता है। किसी के प्रति द्वेष एवं किसी के प्रति आसक्ति उसके हृदय में नहीं होते। वह द्वेष रहित होता है। जीवन्मुक्त की तरह तटस्थ भाव रखता है। वह शुभ कार्य निष्काम भाव से करता है। कर्म करते हुए भी उसके प्रति अभिमान रहित रहता है।

प्रश्न - कर्मफल के त्यागी सत्वगुणी का स्वभावन कैसा होता है ?

उत्तर - वह (१) सत्गुण संपन्न होता है। (२) मेधावी होता है। (३) संशय रहित होता है। (४) अशुभ कर्मों से द्वेष नहीं करता, शुभ कर्मों से लगाव नहीं रखता।

११. न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

शब्दार्थ - कर्माणि = कर्मों को। अशेषतः = संपूर्णरूप से। त्युक्तम् = छोडना। देहभृता = देहधारी जीव के लिए। न शक्यं हि = संभव नहीं है। यः तु = जो। कर्मफल त्यागी = कर्म का फल छोडता है। सः = वह।त्यागी इति = त्यागी। अभिधीयते =कहा जाता है।

भावार्थ - क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्य के द्वारा सम्पूर्णता से सब कर्मों का त्याग किया जाना शक्य नहीं है। इसलिये जो कर्मफल का त्यागी है, वही त्यागी है - यह कहा जाता है।

व्याख्या - देहधारी जीव को देह के संरक्षण के लिए कर्म करना ही पडता है। इसलिए पूर्ण रूप से कर्म त्यागना उसके लिए संभव नहीं है। ऐसी हालत में कर्म करते हुएउनके फल को त्यागना ही समुचित पद्धति है। तब वह जीव उन कर्मों में बद्ध नहीं होता। वही त्यागी कहलाता है। त्यगी वही है, जो बाह्य वस्तु नहीं, अपितु अके फलों को त्यागता है। अभिमान और संग त्यागता है। इससे स्पष्ट है कि कर्म करना ही चाहिए, पर उनके फल की अपेक्षा नहीं करनी चीहए। यही भगवान का आशय है।

प्रश्न - कर्म पूर्ण रूप से करना क्या संभव है ?

उत्तर - देहधारी जीव के लिए संभव नहीं है।

प्रश्न - त्यागी कौन है ?

उत्तर - कर्म करते हुए जो उनका फल त्याग देता है, वही त्यागी है।

१२. अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥

शब्दार्थ - अनिष्टं = दुःखदायक। इष्टम् = सुखदायक। मिश्रं च = सुख और दुःख से मिश्रित। त्रिविधम् = तीन प्रकार के। कर्मणः फलम् = कर्मों का फल। अत्यागिनाम् = कर्मफल का त्याग न करनेवालों को। प्रेत्य = मृत्यु के बाद।

भवति = होता है। सन्यासिनां तु =कर्मफल का त्याग करनेवालों के कर्म का फल। क्वचित्= कभी भी। न = नहीं होता।

भावार्थ - कर्मफल का त्याग न करनेवाले मनुष्यों के कर्मों का तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ - ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात् अवश्य होता है। किन्तु कर्मफल का त्याग कर देनेवाले मनुष्यों के कर्मों का फल किसी काल में भी नहीं होता।

व्याख्या - कुछ लोग कहते हैं कि कर्म बन्धन में बांधता है। पुनर्जन्म का कारण बनता है। अतः कर्म नहीं करना चाहिए। इस श्लोक में भगवानने ऐसे लोगों को सही उत्तर दिया है। कर्म किन्हें बन्धन में बांधता है ? फल की अपेक्षा करनेवाले तथा कर्तृत्वबुद्धि से कर्म करनेवाले ही बंधन में बंधते हैं। जो निष्काम भाव एवं असंग भाव के साथ कर्म करते हैं, वे कभी कर्म के बंधन में नहीं बंधते। यह बात इस श्लोक में बतायी गयी है। फल की आशा लेकर जो कर्म करते हैं, उन्ही को इष्टफल, अनिष्टफल या मिश्रम फल मिला करते हैं। फलों को जो त्याग देते हैं, उनका चित्त शुद्ध होता है, इसके बाद उन्हें ज्ञानोदय होता है, फिर मोक्ष मिलता है। संसार चक्र में वे ही फंसते हैं, जो फल की अपेक्षा से कर्म करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि फल की अपेक्षा किये बिना किया जानेवाला कर्म महान है और भगवान उसे मानते हैं।

प्रश्न - कर्म फल कितने प्रकार के है ?वे क्या हैं ?

उत्तर - तीन प्रकार के हैं १. इष्ट प्रद। २. अयिष्टप्रद। ३. मिश्रित।

प्रश्न - ये तीन फल किन्हें प्राप्त होते हैं ?

उत्तर - कर्मफल की आशा न छोडकर, फल की अपेक्षा लेकर जो कर्म करते हैं, उन्हींको ये फल मिलते हैं।

प्रश्न - ये कब मिलते हैं ?

उत्तर - मरण के बाद मिलते हैं।

प्रश्न – ये कर्मफल किन्हें नहीं मिलते ?

उत्तर – जो निष्काम भाव से कर्म करते हैं, उन्हें ये कर्मफल नहीं मिलते।

सम्बन्ध – पहले श्लोक में अर्जुनने असंन्यास और त्याग का तत्त्व अलग-अलग जानने की इच्छा प्रकट की थी। उसका उत्तर देते हुए भगवान्‌ने दूसरे और तीसरे श्लोकों में इस विषय पर विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत बतलाकर अपने मत के अनुसार चौथे श्लोक से बारहवें श्लोक तक त्याग का यानी कर्मयोग का तत्त्व भलीभाँति समझाया। अब संन्यासका यानी सांख्ययोगका तत्त्व समझाने के लिये पहले सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार कर्मों की सिद्धि में पाँच हेतु बतलाते हैं -

१३. पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥

शब्दार्थ – महाबाहो = बडी बाहुओंवाले हे अर्जुन। सर्वकर्मणाम् = समस्त कर्मों की। सिद्धये = सिद्धि के लिए। कृतान्ते = कर्मकांड का अंत बतानेवाले। सांख्ये = सांख्यशास्त्र में। प्रोक्तानि = बताये गये। एतानि = इस। पञ्चकारणानि = पांच कारणों को। मे (वचनात्) =मेरे (वचनों से)। निबोध = जानो।

भावार्थ – हे महाबाहो ! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के ये पाँच हेतु कर्मों का अन्त करने के लिये उपाय बतलानेवाले सांख्य-शास्त्र में कहे गये हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान।

व्याख्या – कृत+अन्ते- कृतान्ते = सांख्ये - इसका अर्थ है कर्मकांड का अन्त सूचित करनेवाले वेदान्त शास्त्र। बताया जाता है कि वेदांत में आत्म स्वरूप प्रकृति से परे होता है। पर समस्त कर्म प्रकृति के द्वारा ही होते हैं। वेदान्त में समाप्त होते हैं। क्योंकि उस चैतन्यमय आत्म स्थिति में शरीर, इन्द्रिय तथा मन संकल्प आदि नहीं रहते। अतः वह कर्मों की अतीत स्थिति है। इसीलिए यहाँ ज्ञान एवं वेदांतशास्त्र में वेदांत का अन्त (कृतांत) कहा गया।

प्रश्न – कर्मकरने के कितने कारण होते हैं ?

उत्तर – पांच होते हैं।

प्रश्न – उनके बारे में कहां बताया गया ?

उत्तर–कर्म के अन्त रूप ज्ञान का बोध करानेवाले सांख्यशास्त्र में बताया गया।

सम्बन्ध – अब उन पाँच हेतुओंके नाम बतलाये जाते हैं –

१४. अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

शब्दार्थ – अत्र = इस कर्माचरण विषयक। अधिष्ठानम् = शरीर। तथा = वैसे ही। कर्ता = कर्ता। पृथग्विधम् = अलग अलग प्रकार के। करणं च = इन्द्रिय। विविधाः = अनेक प्रकार। पृथक् = अलग। चेष्टाः च =क्रियाएँ। पंचमम् = पाँचवाँ। दैवं च = दैव।(भवन्त = हेतु बनते हैं)

भावार्थ – इस विषय में अर्थात् कर्मों की सिद्धि में अधिष्ठान और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के करण एवं नाना प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैवत्व है।

व्याख्या – करण १२ हैं। (पांच ज्ञानेन्द्रिय+पांच कमेन्द्रिय+मन+बुद्धि)। चेष्टाएँ उनके व्यापार हैं। यहाँ दैव का मतलब उन इन्द्रियों के अधिष्ठान देवता या पूर्वजन्म के संस्कार हैं।

प्रश्न – कोई भी कर्म करना हो तो उनके पांच कारण क्या हैं ?

उत्तर – (१) शरीर (२) कर्ता (३) विविध इन्द्रिय (४) उन इन्द्रियों के व्यापार (५) देव।

१५. शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

शब्दार्थ - नरः =मनुष्य। शरीर वाङ्मनोभि- = शरीर, वाणी, मन इनतीनों से। न्यायं वा = न्यायोचित। विपरीतं वा = अन्यायोचित। यत् कर्म = जो कर्म। प्रारंभते = आरंभ करता है। तस्य = उस कर्म के। एते पञ्च = ये पांचों। हेतवः = कारण हैं।

भावार्थ - मनुष्य मन, वाणी और शरीर से शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है, उसके ये पाँचों कारण हैं।

सम्बन्ध - इस प्रकार सांख्य योग के सिद्धान्त से समस्त कर्मों की सिद्धि के अधिष्ठानादि पाँच कारणों का निरूपण करके अब, वास्तव में आत्मा का कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा सर्वथा शुद्ध, निर्विकार और अकर्ता है - यह बात समझाने के लिये पहले आत्मा को कर्ता माननेवाले की निन्दा करते हैं -

१६. तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

शब्दार्थ - तत्र =उन कर्मों के विषय में। एवं सति = ऐसा होने पर। यः = जो। अकृत बुद्धित्वात् = अशुद्ध बुद्धि होने के कारण। केवलं आत्मानं तु = केवल शुद्धरूप आत्मा को। कर्तारम् = कर्ता के रूपमें। पश्यति = देखता है। सः दुर्मतिः = वह मलिन बुद्धिवाला। न पश्यति =(आत्मा का यथार्थ स्वरूप) नहीं देखता।

भावार्थ - परन्तु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्धबुद्धि होने के कारण उस विषय में यानी कर्मों के होने में केवल-शुद्धस्वरूप आत्मा को कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता।

व्याख्या - कर्म में आत्मा कर्ता नहीं है। उपर्युक्त पांच ही कर्ता हैं। आत्मा केवल साक्षी है। संगरहित है। तब भी कर्तृत्व को आत्मा में जो आरोपित करता है, वह अविवेकी है। वह परमार्थत्व से अनभिज्ञ है। श्रवण आदि संस्कारों से रहित हैं। आत्मा को कर्ता के रूप में देखनेवाला आंखों का अन्धा है। क्योंकि वह सत्य को नहीं देखता। असत्य को देखता है। तत्वदृष्टि न हो, आत्मज्ञान न हो, तो वे अन्धे ही हैं। वे ज्ञाननेत्र विहीन हैं।

अतः सांसारिक विवेक के रहने पर भी आत्मज्ञान न हो, तो वे परमार्थ की दृष्टि से महिमान्वित नहीं हैं। अतः लोगों को आत्मतत्व जानकर भगवान के प्रीतिपात्र बनना चाहिए।

१. दोष- असंगयुक्त आत्मा को कर्ता मानना दोष है।

२. दोष का कारण - बुद्धि का श्रवण आदि के द्वारा सुसंस्कृत न होना। दोष का फल - अज्ञानरूपी अन्धता।

प्रश्न - आत्मा कैसी है ?

उत्तर - साक्षी है। असंग है।

प्रश्न - असंग आत्मा को मनुष्य कर्ता क्यों कहता है।

उत्तर - अज्ञान के कारण, बुद्धि का संस्कार न होने के कारण ऐसा कहता है।

प्रश्न - उसकी स्थिति कैसी है ?

उत्तर - उसकी स्थिति अन्धे की जैसी है ।

सम्बन्ध - आत्मा सर्वथा शुद्ध, निर्विकार और अकर्ता है। यह समझानेके लिये आत्मा को 'कर्ता' माननेवाले की निन्दा करके अब आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझकर उसे अकर्ता समझनेवाले की स्तुति करते हैं -

१७. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

शब्दार्थ-यस्य = जिसे। अहंकृचः भावः = मैं कर्ता हूँ ऐसा भाव। न =नहीं है। यस्य=जिसकी। बुद्धिः=बुद्धि। न लिप्यते = लिपायमान नहीं होती। सः = वह। इमान लोकान् = इन सब प्राणियों को। हत्वा अपि =मार कर भी। न हन्ति= नहीं मारता। न निबध्यते = (पापों से) नहीं बंधता।

भावार्थ - जिस पुरुष के अन्तःकरण में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा

जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में लिप्यमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न पाप से बँधता है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि जिस व्यक्ति के हृदय में अहंकार तथा अपने को कर्ता मानने का विचार नहीं होता, जिस व्यक्ति में कर्म एवं बुद्धि विषयक लगाव नहीं होता, वह पापों के जाल में नहीं फंसता। प्राणियों का वध करने पर भी वह पाप उसे नहीं लगता। वह बंध में नहीं बंधता। कर्मों में कर्तृत्व की भावना रखना कर्म बंध का कारण है। जो व्यक्ति कर्तृत्व की भावना के बिना कर्म करता है, उसे कर्म जनित सुख दुःख तथा पुण्य पाप स्पर्श नहीं करते। यह सत्य इस श्लोक में बताया गया है। हिंसा करने एवं अन्य प्राणियों को मारने का सन्देश यहाँ नहीं दिया गया। समस्त प्राणियों में परमात्मा का स्वरूप देखनेवाला मनुष्य दूसरों पर अत्याचार कर नहीं सकता। अगर करता है, तो समझना चाहिए कि उसके चित्त में आत्मज्ञान का उदय नहीं हुआ।

मनुष्य वास्तव में शरीर और मन नहीं है। वह आत्मा ही है। कर्तृत्व की भावना न रखनेवाला एवं अहंकाररहित मनुष्य आत्मा में स्थित रहता है। वह कर्मों तथा कर्म जनित बन्धनों से मुक्त रहता है। यही वजह है कि वह प्राणियों का वध करे तो भी वह पाप उसे नहीं लगता। कर्मजनित संग से अछूता रहता है। यह आत्मा एवं आत्मा में स्थित मनुष्य की निर्लिप्तता से सम्बन्धित एक सिद्धांत है। यहाँ हिंसा को प्रोत्साहित नहीं किया गया। वास्तव में जो व्यक्ति आत्मा में स्थित होता है, वह प्राणियों का हित करता है। मुमुक्षुओं को यह बात अच्छी तरह याद रखनी चाहिए। पुण्य और पाप का कारण संग, आसक्ति एवं कर्तृत्व की भावना है। जो व्यक्ति इनसे मुक्त होता है वह कर्मों से जनित सुख दुःख एवं पुण्य पाप आदि से मुक्त रहता है। अर्जुन ऐसे ही विज्ञ पुरुष हैं। वे क्षत्रिय हैं। दुष्टों को दंड देना राजा का धर्म है। कर्तव्य है। कौरव अधर्मी बन गए। वे दुष्ट बन गए। इसलिए भगवान श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि हे अर्जुन। असंगबुद्धि तथा

निरहंकार भावना से दुष्ट कौरवों का वध करो। वह वध वध नहीं होगा। दुष्टों तथा द्रोहियों को दण्ड देनेवाले राजाओं को पाप का दोष नहीं लगेगा। स्वधर्म के पालन से वह पाप से मुक्त होगा। इस श्लोक में भगवान ने ज्ञान का जो गहन विषय बताया, उस पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अन्य प्राणियों को सताये बिना आत्मा में स्थित होकर मनुष्य को असंग की भावना से कर्म करते हुए बंध मुक्त होना चाहिए।

प्रश्न – पाप एवं बन्ध का कारण क्या है ?

उत्तर – (१) अहंकार (२) बुद्धि का संग पाप एवं बंध के कारण हैं।

प्रश्न – पाप एवं बन्ध से मुक्त होने का उपाय कया है ?

उत्तर – संग एवं कर्तृत्व की भावना से मुक्त होना चाहिए। उस स्थिति में मनुष्य जो कार्य करता है, उनमें नहीं बंधता।

सम्बन्ध – इस प्रकार संन्यास (ज्ञानयोग) का तत्त्व समझाने के लिये आत्मा के अकर्तापन का प्रतिपादन करके अब उसके अनुसार कर्म के अङ्ग-प्रत्यङ्गो को भलीभाँति समझाने के लिये कर्म-प्रेरणा और कर्मसंग्रह का प्रतिपादन करते हैं१

१८. ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।।

शब्दार्थ–कर्मचोदना = कर्म को चलाने की प्रेरणा। ज्ञानम् = ज्ञान। ज्ञेयम् = ज्ञेय। परिज्ञाता = जाननिहारा। त्रिविधा = तीन प्रकार की है। कर्म संग्रहः = कर्म का आधार। करणम् = उपकरण। कर्म = क्रिया। कर्ता = कर्ता। इति = ऐसा। त्रिविधः = तीन प्रकार का है।

भावार्थ – ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय १ ये तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा हैं और कर्ता, करण तथा क्रिया ये तीन प्रकार का कर्म-संग्रह है।

व्याख्या –

पश्न - कर्म के हेतु कितने हैं ? वे क्या हैं ?

उत्तर - तीन हैं। (१) बुद्धि (२) ज्ञात करनेयोग्य वस्तु (३) परिज्ञाता।

प्रश्न - कर्म के आधार कितने हैं ? वे क्या हैं ?

उत्तर - तीन आधार हैं। (१) उपकरण (२) क्रिया (३) कर्ता।

सम्बन्ध - इस प्रकार सांख्ययोग के सिद्धान्त से कर्म-चोदना (कर्म-प्रेरणा) और कर्म-संग्रह का निरूपण करके अब तत्त्वज्ञान में सहायक सात्त्विक भाव को ग्रहण कराने के लिये और उसके विरोधी राजस, तामस भावों का त्याग कराने के लिये उपर्युक्त कर्म-प्रेरणा और कर्म-संग्रह के नाम से बतलाये हुए ज्ञान आदि में से ज्ञान, कर्म और कर्ता के सात्त्विक, राजस और तामस१ इस प्रकार त्रिविध भेद क्रम से बतलाने की प्रस्तावना करते हैं १

१९. ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥

शब्दार्थ - गुण संख्याने = गुणों की संख्या करनेवाले सांख्य शास्त्र में। ज्ञानम् = ज्ञान। कर्म च = कर्म। कर्ता च = कर्ता। गुण चेतसः = सत्वादि गुणों के भेद के अनुसार। त्रिधा एव = तीन प्रकार से। प्रोच्यते = कहे गये हैं। तानि अपि = उन्हें भी। यथावत् = यथारीति से। श्रुणु = सुनो।

भावार्थ - गुणों की संख्या करनेवाले शास्त्र में ज्ञान और कर्म तथा कर्त्ता गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन।

व्याख्या -

पश्न - भगवान गुणों के भेद के अनुसार किन तीन भागों के बारे में बताना चाहते हैं ?

उत्तर - (१) ज्ञान (२) कर्म (३) कर्ता।

पश्न - उनके बारे में कहाँ बताया गया ?

उत्तर - सांख्यशास्त्र में बताया गया।

सम्बन्ध - पूर्व श्लोक में जो ज्ञान, कर्म और कर्ता के सात्त्विक, राजस और तामस भेद क्रमशः बतलाने की प्रस्तावना की थी १ उसके अनुसार पहले सात्त्विक ज्ञान के लक्षण बतलाते हैं१

२०. **सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।**
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

शब्दार्थ - विभक्तेषु = विभाजित। सर्वभूतेषु = समस्त प्राणियों में। एकम् = एक। अव्ययम् = नाशरहित। भावम् = आत्मवस्तु को। येन = जिस ज्ञान से। अविभक्तम् = विभागरहित। ईक्षते = देखता है। तत् ज्ञानम् = वह ज्ञान। सात्विकम् = सात्विक। विद्धि = जानो।

भावार्थ - जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मभाव को विभागरहित समभाव से स्थित देखता है, उस ज्ञान को तो तू सात्त्विक जान।

व्याख्या - इन चराचर प्राणियों को अज्ञानी विभाजित देखते हैं। लेकिन ज्ञानियों की दृष्टि में अविभक्त रूप में, सर्वत्र एक ही आत्मवस्तु व्याप्त है। जिससे उन्हें यह ज्ञान प्राप्त होता है, वह सात्विक ज्ञान कहलाता है।

"सर्वभूतेषु" १ इस वाक्य से स्पष्ट होता है कि भगवान सभी भूतों में व्याप्त है। अतः उसे पहचान लें, तो निकृष्ट जीव भी तर सकता है। यद्यपि लहर छोटी होती है। परन्तु वह विशाल सागर का ही अंश है। लहर सागर में लीन होती है। इसी प्रकार भगवान का अंश जीव परमात्मतत्व को पहचान ले, तो तर सकता है।

अनेक लहरें होती हैं, पर उन्हें अलग न देखकर जलमात्र को जो देखता है, अनेक घडों को अलग न देखकर सब में जो एक ही मिट्टी देखता है,

अनेक पुष्पों में एक ही सूत्र को जो देखता है, वह इस संसार के नाना रूपों तथा नाना नामोंवाले पदार्थों को देखकर भी उन सब में एक ही आत्मतत्व को देखता है। वह सात्विक ज्ञानी कहलाता है। इस श्लोक में आत्मवस्तु के तीन विशेषण बताये गए हैं। (१) एकरूप (२) अव्यय (३) अविभक्त। सांसारिक वस्तुओं तथा आत्मा में जो भेद है, वह नीचे सूचित किया जाता है। सांसारिक वस्तुओं तथा आत्मा में जो भेद है वह नीचे सूचित किया जाता है।

सांसारिक वस्तु	**आत्मा (देव)**
१. अनेक हैं	एक है। (एकम्)
२. नाशवान हैं	नाशरहित है। (अव्ययम्)
३. विभाग युक्त हैं	अविभक्त है। (अविभक्तम्)

संसार में कई ज्ञान हैं। जैसे - संगीतज्ञान, साहित्यज्ञान, राजनीतिकज्ञान आदि। लेकिन जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य अनेकता में एकता, मृत्यु में अमृतत्व तथा विभक्त में अविभक्त को देख सकता है, वह सर्वोत्तमज्ञान है। वही सात्विक ज्ञान है। वही अध्यात्मविद्या है। विज्ञ लोगों का कर्तव्य है कि वे भगवान के इस वाक्य पर विश्वास कर धन्य बनें। यद्यपि संसार में कई ज्ञान हैं, विद्याएँ हैं, कलाएँ हैं तथा लौकिक ज्ञान हैं, तथापि विज्ञ पुरुष को भगवत्प्रदत्त सात्विकज्ञान के अवलंबन के द्वारा सर्वात्मा की अनुभूति पाकर अपना जन्म धन्य बनाना चाहिए। संसार में किसी भी मनुष्य या पदार्थ को जब देखते हैं, तब उसके रूप, उसके शरीर आदि पर ध्यान न देकर उसकी आत्मा पर ध्यान दें, तो मनुष्य तर जाएगा। केवल शरीर मात्र पर ध्यान देनेवाले अधम हैं। गुणों को देख सकनेवाले मध्यम हैं। आत्मदृष्टि तथा दैवदृष्टिवाले उत्तम हैं। यही भाव इस श्लोक में बताया गया है। सभी को सात्विक ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न - सात्विक ज्ञान का लक्षण क्या है ?

उत्तर - जिस ज्ञान से मनुष्य अनेकता में एकता, मृत्यु में अमृतत्व तथा नाशवान पदार्थों में अविनाशी को देखता है, वह सात्विक ज्ञान है।

प्रश्न – भगवान कहाँ हैं ?

उत्तर – समस्त चराचर प्राणियों में भगवान हैं।

प्रश्न – आत्मा का स्वरूप क्या है ?

उत्तर– वह (१) एकरूप है (२) अव्यय है (३) अविभक्त है।

पश्न – इस संसार में जो अनेकता है क्या वह सत्य है ?

उत्तर – नहीं, एकता ही सत्य है।

सम्बन्ध – अब राजस ज्ञान के लक्षण बतलाते हैं १

२१. पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥

शब्दार्थ – यत् ज्ञानम् = जो ज्ञान। सर्वेषु = समस्त। भूतेषु = प्राणियों में। पृथग्विधान् = भिन्न भिन्न प्रकार के। नाना भावान् = नाना भावों को। पृथकत्वे न तु = अलग अलग। वेत्ति = जानता है। तत् ज्ञानम् = उस ज्ञान को। राजसम् = राजसज्ञान। विद्धि = जानो।

भावार्थ – किन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को अलग-अलग जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान।

व्याख्या – संसार के प्राणियोंमें भिन्नता देखना ठीक नहीं है। वह राजस ही होगा। राजस ज्ञानवाले किसी व्यक्ति को देखते हैं, तो उनके गुण पर ही ध्यान देते हैं। उनकी आत्मा को नहीं देखते। लोगों में भिन्नता को ही देखते हैं। ऐसे लोग आजकल संसार में ज्यादा हैं। इस भाव को बदलना चाहिए।

प्रश्न – राजसज्ञान का लक्षण क्या है ?

उत्तर - संसार में अनेकता को देखना और सभी जीवों में भिन्नता देखना, राजस प्रवृत्ति का लक्षण है।

सम्बन्ध - अब तामस ज्ञान का लक्षण बतलाते हैं १

२२. यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥

शब्दार्थ - यत् तु = जो ज्ञान। एकस्मिन् कार्ये = किसी एक कार्य में। कृत्स्नत् = संपूर्ण के सदृश। सक्तम् = आसक्त है। अहैतुकम् = बिना युक्तिवाला। अतत्त्वार्थवत्=तात्विक अर्थ से रहित। अल्पं च = तुच्छ है। तत् = वह ज्ञान। तामसम् = तामस ज्ञान। उदाहृतम् = कहा गया है।

भावार्थ - परन्तु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीर में ही सम्पूर्ण के सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थ से रहित और तुच्छ है १ वह तामस कहा गया है।

व्याख्या - तामस ज्ञानवाला किसी दृश्य वस्तु के प्रति आसक्त होकर उसीको सब कुछ मानता है। किसी व्यक्ति का शरीर देखकर उसी को सर्वस्व मानता है। चंचल मन एवं देह नश्वर हैं। उन्हींको सर्वस्व माननेवाला नश्वर सुखों एवं वासनाओं में लीन होकर जननमरण के बन्धनों में बंधता है। दुःख पाता है। अतः मुमुक्षुओं को राजस एवं तामस ज्ञान त्यागकर सात्विक ज्ञान को अपनाना चाहिए।

प्रश्न - तामसज्ञान कैसा है ?

उत्तर - किसी दृश्य वस्तु को देखकर उस पर आसक्त होता है। उसीको सर्वस्व मानता है। सत्य को देख नहीं सकता। तुच्छ फलों की अपेक्षा करता है। यही तामस ज्ञान है।

२३. नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥

शब्दार्थ - नियतम् = शास्त्र विधि से नियत। यत् कर्म = जो कर्म। अफल प्रेप्सुना = फल की अपेक्षा से रहित पुरुष द्वारा। सङ्गरहितम् = कर्तापन के अभिमान से रहित होकर। अराग द्वेषतः = राग द्वेष के बिना। कृतम् = किया गया। तत् = वह। सात्विकम् = सात्विक कर्म। उच्यते = कहा जाता है।

भावार्थ - जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ और कर्तापन के अभिमान से रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुष द्वारा बिना राग-द्वेष के किया गया हो- वह सात्त्विक कहा जाता है।

व्याख्या - कर्म के बारे में कहते समय भगवान ने बार-बार 'नियतं' शब्द का प्रयोग किया। 'नियतम्' का अर्थ है, वेदशास्त्र के द्वारा नियत किया हुआ। अपनी इच्छा के अनुसार हर विषय को सत्य न मानकर, शास्त्र सम्मत विषय को सत्य मानना चाहिए। संसार में कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता। नित्य जीवन में कर्म एक आवश्यक अंश है। इसलिए उसके रहस्य को अच्छी तरह जानना आवश्यक है। भगवानने यहाँ सात्विक कर्म के बारे में कहा है। उसे जानना हर व्यक्ति का कर्तव्य है। कर्म निम्न प्रकार होना चाहिए।

(१) शास्त्र के द्वारा नियत होना चाहिए।

(२) संगरहित होना चाहिए।

(३) राग द्वेष के बिना किया जाना चाहिए।

(४) फल की अपेक्षा के बिना किया जाना चाहिए।

चार प्रकार के ये कर्म चित्त को शुद्ध करेंगे। हृदय की मलिनता को दूर करेंगे। दोषों का भंजन करेंगे। ज्ञानदायक एवं मोक्षदायक बनेंगे। कर्मों में बुद्धि का लगाव न हो, तो वह असंगत्व कहलाता है। अतः मनुष्य को संगरहित होकर, फल की अपेक्षा किये बगैर कर्म करने का अभ्यास करना चाहिए।

जब वस्तुओं के प्रति रागद्वेष नहीं रहता, तब संगरहित होकर कार्य

करना सुलभ होगा। अतः कर्म की शुद्धता के लिए रागद्वेष राहित्य अत्यंत आवश्यक है।

प्रश्न– सात्विक कर्म कैसा है ?

उत्तर – (१) शास्त्र के द्वारा नियत है। (२) संगरहित भावना से आचरण में लाया जाता है। (३) रागद्वेष के बिना आचरण में लाया जाता है। (४) फल की अपेक्षा के बिना किया जाता है। यही सात्विक कर्म है।

सम्बन्ध – अब राजस कर्म के लक्षण बतलाते हैं १

> २४. **यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।**
> **क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥**

शब्दार्थ – कामेप्सुना = फल की कामना करनेवाले के द्वारा। पुनः = और। साहं कारेणवा = अहंकार युक्त पुरुष के द्वारा। बहुलायासम् = बहुत परिश्रम से। यत् कर्म तु=जो कर्म। क्रियते = किया जाता है। तत् = वह। राजसं = राजस कर्म। उदाहृतं = कहा गया है।

भावार्थ – परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है तथा भोगों को चाहनेवाले पुरुष द्वारा या अहङ्कारयुक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है।

व्याख्या – फल की कामना एवं अहंकार से जो कर्म किया जाता है, वह राजस कर्म कहलाता है। 'आयासम्' न कहकर 'बहुलायासम्' कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि राजस कर्म करनेवाला श्रम से कार्य करता है। इससे श्रम ही बचता है, न कि बन्ध निवृत्ति। क्योंकि वे कर्म अहंकार एवं फल की कामना नामक दोषों से युक्त होते हैं। अहंकार बंध है। कर्तृत्व बंध है। फल की कामना बंध है। इसलिए विज्ञ पुरुष को राजस कर्म न करके निष्काम बुद्धि से सात्विक कर्म करना चाहिए।

प्रश्न - राजस कर्म कैसा है ?

उत्तर - (१) फल की कामना (२) अहंकार से युक्त होता है। (३) अधिक श्रमयुक्त होता है।

सम्बन्ध - अब तामस कर्म के लक्षण बतलाते हैं -

२५. अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥

शब्दार्थ - अनुबन्धम् = कर्मों से भविष्य में होने वाले दुःख। क्षयम् = हानि। हिंसाम् = हिंसा। पौरुषम् = सामर्थ्य। (के बारे में)। अनपेक्ष्य = विचार न करके। मोहात् = अविवेक से। यत् कर्म = जो कर्म। आरभ्यते = आरम्भ किया जाता है। तत् = वह। तामसम् = तामस कर्म। उच्यते = कहा जाता है।

भावार्थ - जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर, केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है १ वह तामस कहा जाता है।

व्याख्या - तामस कर्म करनेवाला बिना सोचे विचारे कर्म शुरू करता है। उन कर्मों से होनेवाले दुःखों के बारे में नहीं सोचता। उनसे दूसरों को होनेवाले नुकसान पर भी ध्यान नहीं देता। अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य पर ध्यान नहीं देता। अविवेक के साथ अन्धाधुन्ध कर्म करने लगता है। ऐसे तामसी के कर्म खतरनाक होते हैं। अतः ऐसे कर्म सर्वदा त्याज्य हैं। आम तौर पर अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए भगवान विरोधी एवं दृश्य विषयक कमाई की प्रवृत्तिवाले सभी कर्म राजस एवं तामस ही होते हैं। तामसी नहीं सोचता कि उन कर्मों से आत्मा का कितना बडा नुकसान होता है।

'मोहात्' कहने से स्पष्ट होता है कि राजस एवं तामस क्रियाओं का मूल कारण अविवेक है। अज्ञान है। इसलिए पहले विवेक अर्जित कर ऐसी राजस एवं तामस वृत्तियों का परित्याग कर जीवन का संस्कार कर लेना चाहिए।

प्रश्न – तामस कर्म कैसा होता है ?

उत्तर – भविष्य में होनेवाले दुःखों, नुकसानों एवं अपनी शक्ति सामर्थ्य का ख्याल नहीं करता। अविवेक के साथ अन्धाधुन्ध तामस कर्म किये जाते हैं।

प्रश्न – तामस प्रवृत्ति के कारण क्या हैं ?

उत्तर – अविवेक ही इसका कारण है।

२६. मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।

शब्दार्थ–मुक्तसङ्गः=संग रहित। अनहंवादी=अहंकार के वचन न बोलनेवाला। धृत्युत्साह समन्वितः = धैर्य एवं उत्साह से युक्त। सिध्य सिध्योः = कार्य के सिद्ध होने और न होने में। निर्विकारः = विकारों से रहित। कर्ता = कर्ता। सात्विकः = सात्विक। उच्यते = कहा जाता है।

भावार्थ – हे अर्जुन ! जो कर्ता आसक्ति से रहित और अहंकार के वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साह से युक्त एवं कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष, शोकादि विकारों से रहित है, वह कर्ता तो सात्त्विक कहा जाता है।

व्याख्या – नित्य जीवन में हर प्राणी को कोई न कोई कर्म करना पडता है। ऐसी हालत में वह कर्ता के लक्षण अच्छी तरह जान ले, तो अच्छे कार्य कर सकता है। कर्ता के चार लक्षण उत्तम बताये गये हैं। (१) संग राहित्य (२) अहंभाव राहित्य (३) धैर्य और उत्साह से रहना (४) कार्य की सिद्धि एवं असिद्धि में निर्विकार रहना। कार्य सफल हो या विफल, साधक को उत्साहित एवं निरुत्साहित नहीं होना चाहिए। कार्य विफल हो, तो उसे सफल बनाने का निरंतर प्रयत्न करना चाहिए। द्वंद्वों से भयभीत नहीं होना चाहिए। इस संसार को मिथ्या समझकर, अपने को साक्षी रूप सत्य एवं आत्मस्वरूप मानकर द्वंद्वों के प्रति समबुद्धि रखनी चाहिए।

प्रश्न – सात्विककर्ता के लक्षण क्या हैं ?

उत्तर – (१) संग भावना को त्यागना। (२) कर्तृत्व का अहंकार त्यागना। (३) धैर्य और उत्साह से भरा रहना। (४) कार्यसफल हो या विफल निरंतर निर्विकार रहना। ये सात्विककर्ता के लक्षण हैं।

सम्बन्ध – अब राजस कर्ता के लक्षण बतलाते हैं ?

२७. रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।

शब्दार्थः – रागी = आसक्ति से युक्त। कर्मफलप्रेत्सुः = कर्म फल की अपेक्षा करनेवाला। लुब्धः = लोभी। हिंसात्मकः = हिंसा से युक्त स्वभाववाला। अशुचिः=अशुद्धाचारी। हर्षशोकान्विताः = हर्ष-शोक से लिप्त। कर्ता = कर्ता। राजसः = राजस कर्ता। परिकीर्तितः = कहा गया है।

भावार्थ – जो कर्ता आसक्ति से युक्त, कर्मों के फल को चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने के स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोक से लिप्त है – वह राजस कहा गया है।

व्याख्या – उत्तम पुरुष को राजस के लक्षण त्याग देना चाहिए। सांसारिक वस्तुओं तथा विषय वासनाओं के प्रति अनुराग नहीं रखना चाहिए। कर्म के फल की इच्छा छोडनी चाहिए। अन्य प्राणियों को सताना नहीं चाहिए। कार्य की सिद्धि और असिद्धि में हर्ष व शोक नहीं करना चाहिए। द्वंद्व रहित होकर समचित्त रहना चाहिए।

प्रश्न – राजस कर्ता कैसा होता है ?

उत्तर – (१) अनुरागी (२) कर्मफल चाहनेवाला (३) लोभी (४) हिंसा प्रवृत्तिवाला (५) शुचिता विहीन (६) कार्य की सिद्धि एवं असिद्धि में हर्ष व शोक करनेवाला, राजसकर्ता माना जाता है।

सम्बन्ध - अब तामस कर्ता के लक्षण बतलाते हैं।

२८. अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥

शब्दार्थ - अयुक्तः = मनोनिग्रह रहित। प्राकृतः = शिक्षा से रहित। स्तब्धः = घमंडी। शठः = धूर्त। नैष्कृतिकः = दूसरों की जीविका का नाश करनेवाला। अलसः = आलसी। विषादी = शोक करनेवाला। दीर्घ सूत्री च = दीर्घ सूत्री। कर्ता = कर्ता। तामसः = तामस। उच्यते = कहा जाता है।

भावार्थ - जो कर्ता अयुक्त, शिक्षा से रहित, घमंडी, धूर्त और दूसरोंकी जीविका का नाश करनेवाला तथा शोक करनेवाला, आलसी और दीर्घसूत्री है - वह तामस कहा जाता है।

व्याख्या - "अयुक्तः"- जिसका मन बहिर्मुखी एवं चंचल होता है, वह अयुक्त है। आत्मा में जो स्थिर नहीं होता, जो एकाग्र एवं निग्रही नहीं होता, वह अयुक्त है। आत्मा एवं परमात्मा में जो स्थित नहीं होता, वह अयुक्त है। ऐस अयुक्त मन संयमित नहीं होता। बाहर ही घूमता रहता है।

"प्राकृतः" - प्राकृतिक गुणोंवाला प्राकृत है। संस्कारहीन पामर है। हर मनुष्य को अपने अन्दर के प्राकृतिक गुणों को त्याग कर अप्राकृत तथा दैवस्वरूप बनना चाहिए।

"नैष्कृतिकः" - दूसरों के कार्य बिगाडमेवाले और दूसरों को धोखा देनेवाले चार प्रकार के होते हैं। (१) अपने सुख की परवाह न कर दूसरों का भला करनेवाले (२) अपने सुख का ख्याल करते हुए दूसरों का भला करनेवाले (३) अपने सुख के लिए दुसरों को नुकसान पहुँचानेवाले (४) अनावश्यक दूसरों का अहित करनेवाले। प्रथम उत्तम है। द्वितीय मध्यम है। तृतीय अधम है। चतुर्थ अधमाधम है। इस श्लोक में बताये गए 'नैष्कृतिक' तृतीय एवं चतुर्थ प्रकार के हैं।

"अलसः" - भगवान आलस्य को तामस कर्ता का लक्षण बता कर उसे दूर करने का आदेश देते हैं। आलसी किसी भी क्षेत्र में तरक्की नहीं करता। आध्यात्मिक क्षेत्र में आलसियों के लिए स्थान नहीं रहता।

विषादी - तामस कर्ता हर समय उदास रहता है। वास्तव में मनुष्य अनन्त आनन्द का रूप है। उसे हमेशा विषाद से नहीं रहना चाहिए। अज्ञान के कारण ही ऐसा रहता है। अतः मनुष्य को गंभीर रहना चाहिए। विषाद को त्यागना चाहिए।

दीर्घसूत्री - मंदबुद्धि से काम करनेवाला, कछुए की चाल से चलनेवाला, छोटे से छोटे काम भी किये बिना घंटों टालते रहनेवाला, तामसकर्ता है। इस अवसर पर महाभारत के शांतिपर्व के प्रसंग का स्मरण करना चाहिए। भीष्मने युधिष्ठिर को दीर्घदर्शी, प्राप्तकालज्ञ तथा दीर्घसूत्री नामक तीन मछलियों के बारे में बताया था। उन तीनों में दीर्घदर्शी विचारवान थी। प्राप्त कालज्ञ प्रयत्न में लोप करनेवाली थी। दीर्घ सूत्री कोई प्रयत्न न करनेवाली सुस्त थी। (कहानी में वह मल्लाह के जाल में फंसकर मर जाती है)। इसलिए दीर्घसूत्री के आलस्य को दूर कर देना चाहिए। मानवजन्म पाकर भगवान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करना एवं सुस्त रहना खतरनाक है।

प्रश्न – तामस कर्ता कैसा होता है ?

उत्तर – (१) मन का असंयमित (२) पामर (३) बुद्धिहीन (४) धोखेबाज (५) दूसरों का कार्य बिगाडनेवाला (६) आलसी (७) हमेशा दुःख व शोक करनेवाला (८) काम जल्दी पूरा न करके अधिक दिनों तक उन्हें करते रहनेवाला, तामसकर्ता कहलाता है।

तीन-तीन भेद क्रम से बतला कर अब बुद्धि और धृति के सात्त्विक, राजस और तामस-इस प्रकार त्रिविध भेद क्रमशः बतलाने की प्रस्तावना करते हैं -

२९. बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥

शब्दार्थ - धनंजय = हे अर्जुन। बुद्धेः = बुद्धि का। धृतेः च एव = धृति का। भेदम् = भेद को। गुणतः = गुणों के अनुसार। त्रिविधम् = तीन प्रकार। पृथकत्वेन = अलग अलग। अशेषेण = संपूर्णता से। प्रोच्यमानम् = कहा जानेवाला। श्रृणु = सुन।

भावार्थ - हे धनंजय ! अब तू बुद्धि का और धृति का भी गुणों के अनुसार तीन प्रकार का भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णता से विभागपूर्वक कहा जानेवाला सुन।

३०. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन। या बुद्धि = जो बुद्धि। प्रवृत्तिं च = प्रवृत्तिमार्ग। निवृत्तिं च = निवृत्तिमार्ग को। कार्या कार्ये = कर्तव्य और अकर्तव्य को। भया भये = भय और अभय को। बन्धं = बन्ध को। मोक्षं च = मोक्ष को। वेत्ति = जानती है। सा = वह बुद्धि। सात्विकी = सात्विकी है।

भावार्थ - हे पार्थ ! प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को एवं भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि तत्त्वसे जानती है, वह बुद्धि तो सात्त्विकी है।

व्याख्या - सात्विक बुद्धि भले बुरे के बारे में सोच विचार कर भले को स्वीकार करती है। बन्ध और मोक्ष के बारे में जानकर बन्ध को छोडकर मोक्ष को ग्रहण करने का प्रयास करती है। सात्विक सर्वोत्तम है। हर व्यक्ति को सोचना चाहिए कि मेरी बुद्धि कैसी है ? फिर सात्विक बुद्धि को अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न - सात्विक बुद्धि कैसी होती है ?

उत्तर - (१) धर्म प्रवृत्ति को अपनाती है (२) कर्तव्य और अकर्तव्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष के बारे में अच्छी तरह सोच विचार कर आचरण करती है। यही सात्विक बुद्धि है।

सम्बन्ध - अब राजसी बुद्धि के लक्षण बतलाते हैं -

३१. यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन। यया = जिस बुद्धि से। धर्मम् = धर्म को। अधर्मं च = अधर्म को। कार्यं च = कर्तव्य को। अकार्यं एव च = अकर्तव्य को। अयथावत् = जैसे को तैसा न समझ कर। (गलत ढंग से) प्रजानाति = समझता है। सा बुद्धिः = वह बुद्धि। राजसी = राजस है।

भावार्थ - हे पार्थ! मनुष्य जिस बुद्धि के द्वारा धर्म और अधर्म को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है।

व्याख्या - कुछ लोगों की बुद्धि धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य को शास्त्रों में बतायी गयी रीति एवं बडों और गुरुओं के द्वारा बतायी गयी रीति के अनुसार न जानकर और एक गलत रीति से देखती है, ऐसी बुद्धि राजस है।

प्रश्न - राजस बुद्धि कैसी होती है ?

उत्तर - धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य को जैसे को तैसा न समझकर गलत रीति से समझती है।

सम्बन्ध - अब तामसी बुद्धि के लक्षण बतलाते हैं -

३२. अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।

शब्दार्थ - पार्थ= हे अर्जुन। या =जो बुद्धि। तमसा = अविवेक से। आवृता = ढंकी होकर। अधर्मम् = अधर्म को। धर्मम् इति = धर्म। सर्वार्थान् = समस्त पदार्थों

को। विपरीतान् =विपरीत। मन्यते = मानती है। सा बुद्धिः = वह बुद्धि। तामसी =तामस है।

भावार्थ - हे अर्जुन! जो तमोगुण से घिरी हुई बुद्धि अधर्म को भी यह धर्म है ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थों को भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है॥

व्याख्या - तामसबुद्धि वाले को सब कुछ उल्टा दिखाई देता है। मैले आइने में जैसे चेहरा मैला दिखाई देता है, उसी प्रकार तामस बुद्धि वाले को सब कुछ उल्टा दिखाई देता है। 'सर्वार्थान्' कहने से स्पष्ट होता है कि जीवन में हर पदार्थ उसे उल्टा ही दिखाई देता है। इसका क्या कारण है? "तमसाऽऽवृता"। अज्ञान, अविवेक तथा अविद्या से बुद्धि ढकी रहती है। यही इसका कारण है। ताडीपीनेवाले को जैसे यह संसार घूमता सा नजर आता है, उसी प्रकार माया मोह आदि की सुरा के पीने से मस्त अज्ञानी को यह संसार अवास्तविक नजर आता है। जैसे -

१. नश्वर शरीर उन्हें शाश्वत दीखता है।

२. दुःख देनेवाली विषय वासनाएं उन्हें सुखकर लगती हैं। परमानन्दायक आत्मा उन्हें दुःखकर लगता है।

३. रक्तमांस मय नश्वर शरीर में सुंदरता देखते हैं। सच्चिदानंदघन शाश्वत परमात्माके प्रति हेय बुद्धि दिखाते हैं।

सारांश यह कि धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझते हैं। इसका कारण उसका अविवेक ही है। जो बुद्धि ऐसी अविद्या से आवृत रहती है, वह महा निकृष्ट है। इसलिए ऐसी बुद्धि को त्यागकर सत्य को सत्य एवं असत्य को असत्य समझने की शक्ति प्राप्त करके जीव को कृतार्थ होना चाहिए।

प्रश्न - तामस बुद्धि कैसी होती है?

उत्तर - अविवेक से ढकी रहती है। अधर्म को धर्म एवं धर्म को अधर्म समझती है। सब पदार्थों को उलटा देखती है।

३३. धृत्या यया धारयत मनःप्राणान्द्रियाक्रयाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।

शब्दार्थ - पार्थ =हे अर्जुन। अव्यभिचारिण्या = अविचलित। यया धृत्वा (युक्तः) = जिस धैर्य से युक्त होकर। मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः = मन, प्राणियों तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को। योगेन = योग की साधना से। धारयते = धारण करता है। साधृतिः = वह धैर्य। सात्विकी = सात्विक है।

भावार्थ - हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्ति से मनुष्य ध्यानयोग के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है।

व्याख्या - संसार में कई धैर्यवान लोग रहते हैं। कुछ युद्ध क्षेत्र में धैर्य से युद्ध करते हैं। कुछ रात के समय भयंकर जंगलों में संचार करते हैं। कुछ धैर्य से ऊँचे पर्वतों पर चढते हैं। कुछ गहरे सागर को पार करते हैं। पर इस श्लोक में उन सब में श्रेष्ठ एवं उन्नत और एक धैर्य का परिचय कराया गया है। वह सात्विक धैर्य है। जिस धैर्य के द्वारा मनुष्य मन, इन्द्रिय तथा विषयवासनाओं को जीतता है, वह महान् धैर्य है। यह धैर्य स्थिर एवं अचंचल होता है। इसीलिए "अव्यभिचारिण्या" कहा गया है। अतः स्थिर एवं निश्चल धैर्य को धारण करना चाहिए।

प्रश्न - सात्विक धैर्य कैसा है ?

उत्तर - जिसे निश्चल धैर्य के द्वारा मनुष्यइन्द्रिय एवं मन को जीत सकता है, वह सात्विक धैर्य कहा गया है।

सम्बन्ध - अब राजसी धृति के लक्षण बतलाते हैं -

३४. यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥

शब्दार्थ – पार्थ = हे अर्जुन। यया धृत्यातु = जिस धैर्य से। फलाकांक्षि = फल की इच्छावाला मनुष्य। धर्म कामार्थान् = धर्म, काम तथा अर्थ को। प्रसङ्गेन = अधिक आसक्ति के साथ। धारयते =धारण करता है। सा धृतिः = वह धैर्य। राजसी = राजस है।

भावार्थ – और हे पृथापुत्र अर्जुन! फल की इच्छावाला मनुष्य अति आसक्ति से जिस धारणा के द्वारा धर्म, अर्थ और कामों को धारण करता है, वह धारणा राजसी है।

व्याख्या – पुरुषार्थ चार हैं। (१) धर्म (२) अर्थ (३) काम (४) मोक्ष। इन चारों में से प्रथम तीन के बारे में ही यहाँ बताया गया। चौथे के बारे में नहीं बताया गया। इससे स्पष्ट होता है कि राजसी धैर्यवाले मोक्ष पर ध्यान नहीं देते। अतः यह धैर्य परमार्थ की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं है। इन्द्रियों के निरोध के द्वारा मोक्ष के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह सात्विक धैर्य ही सर्वश्रेष्ठ है।

धर्म, अर्थ तथा काम की अपेक्षा मोक्ष का अन्वेषण करनेवाले ही सर्वश्रेष्ठ हैं। प्रथम धर्म का अर्थ सामान्य धर्म ही लेना चाहिए। विशेष धर्म तो पारमार्थिक होता है। परमात्मा की प्राप्ति उसका लक्ष्य है। 'सङ्गेन' न कहकर "प्रसङ्गेन" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि वे धर्म अर्थ एवं काम के प्रति अधिक आसक्ति दिखाते हैं।

प्रश्न – राजस धैर्य कैसा है ?

उत्तर – जिस धैर्य से मनुष्य फल की इच्छा कर धर्म, अर्थ और काम का बडी आसक्ति से अनुष्ठान करता है वह राजस धैर्य कहलाता है।

सम्बन्ध – अब तामसी धृति के लक्षण बतलाते हैं –

३५. यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन। यया = जिस बुद्धि से। दुर्मेधाः = दुष्ट बुद्धिवाला। स्वप्नम् = निद्रा। भयम् = भय। शोकम् = दुःख। विषादम = विषाद। मदम् एव च=मद को। न विमुञ्चति = नहीं छोडता। साधृति = वह धैर्य। तामसी = तामस है।

भावार्थ - हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्ति के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दु.ख को तथा उन्मत्तता को भी नहीं छोडता, अर्थात् धारण किये रहता है, वह धारणशक्ति तामसी है।

व्याख्या - धैर्य श्रेष्ठ गुण है। पर वह दुर्विषयों में लगाया जाय, तो व्यर्थ हो जाएगा। तमोगुणी एक प्रकार के धैर्य से अतिनिद्रा, भय, दुःख, विषाद तथा मद को नहीं छोडता। धैर्य जैसा सुगुण निद्रा आदि निकृष्ट गुणों में लगे, तो व्यर्थ हो जाता है। उसे भगवान की प्राप्ति में लगाना चाहिए। वाल्मीकि इसके उदाहरण हैं। वे पहले हठी एवं दुष्कर्मी थे। पर बाद को धैर्य का उपयोग रामनाम के स्मरण में कर कृतकृत्य हो गए।

"दुर्मेधा" कहने से स्पष्ट होता है कि तमोगुणी अपनी मेधा का दुरुपयोग करता है। "स्वप्नम्" निद्रा कहा गया। यहाँ अतिनिद्रा का अर्थ लेना चाहिए।

प्रश्न - तामस धैर्य कैसा है ?

उत्तर - जो धैर्य निद्रा, भय, शोक, दुःख तथा मद को बढाता है, वह तामस धैर्य कहलाता है।

सम्बन्ध - इस प्रकार सात्त्विकी बुद्धि और धृति का ग्रहण तथा राजसी -तामसी का त्याग कराने के लिये बुद्धि और धृति के सात्त्विक आदि तीन-तीन भेद क्रम से बतलाकर अब, जिसके लिये मनुष्य समस्त कर्म करता है, उस सुख के भी सात्त्विक, राजस और तामस-इस प्रकार तीन भेद क्रम से बताना आरम्भ करते हुए पहले सात्त्विक सुख के लक्षणों का निरूपण करते हैं -

३६. सुखं त्विदानीं त्रिविधं श्रृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।

शब्दार्थ - भरतर्षभ = भरतकुल श्रेष्ठ हे अर्जुन। यत्र = जिसमें। अभ्यासात् = अभ्यास से। रमते = आनन्द पाता है। दुःखान्तं च = दुःख नाश को भी। निगच्छति =अधिक पाता है। (तू = वह) सुखम् तु = सुख को तो। इदानीम् = अब। त्रिविधम् = तीन प्रकार के। मे = मेरे। (वचनात् = वाकय) श्रृणु= सुनो।

भावार्थ - हे भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकार के सुख को भी तू मुझसे सुन। जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादि के अभ्यास से रमण करता है और जिससे दुःखों के अन्त को प्राप्त हो जाता है, वही सात्विक सुख है।

व्याख्या - "अभ्यासात्" - भगवान बताते हैं कि सात्विक सुख, देवीसुख तथा ब्रह्मानन्द अभ्यास से ही प्राप्त होते हैं। अध्यात्म विद्या बातों से प्राप्त नहीं होती। वह अनुभूतिजन्य विद्या है। कई लोग पूछा करते हैं कि दुःख कैसे दूर होगा? सुख कैसे प्राप्त होगा? हमें परमात्मा का साक्षात्कार कैसे होगा?" इन प्रश्नों के उत्तर के रूप में भगवान बताते हैं कि अभ्यास करो, तो वे तुम्हें प्राप्त होंगे।" दही को मथने से ही मक्खन निकलेगा। तिलों को निचोडने से ही तेल निकलेगा। गन्ने को चबाने से ही रस निकलेगा। इसी तरह अभ्यास से ही दुःख दूर होगा। सुख मिलेगा।

"दुःखान्तं च निगच्छति" - इस संसार में हर जीव दुःख राहित्य चाहता है। जीवन में अति मुख्य विषय दुःख दूर करना ही है। चींटी,मच्छर तथा ब्रह्म भी वही चाहते हैं। असल में जीव दुःख राहित्य कहाँ पाता है? सांसारिक बाधाएं कहाँ मिटती हैं? दुःखरहित जगह कहाँ है? शाश्वत सुख पहुँचानेवाला पदार्थ क्या है? कहाँ है? इन सब प्रश्नों का उत्तर एक ही है। वह कहीं बाहर नहीं है। दुःख का अन्त एकमात्र आत्मा में ही होगा। भगवान से ही होगा। आत्मिकसुख तथा सात्विक आनन्द में ही जीव दुःखराहित्य प्राप्त करेगा।"

यह भगवान का कथन है। इससे दुःख निवारण की समस्या हल होती है। दुःख निवारण का उपाय सात्विक सुख एवं दैवी सुख की प्राप्ति ही है। वह प्राप्ति अभ्यास से ही होगी।

प्रश्न – सुख कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर – तीन प्रकार का है। (१) सात्विक (२) राजस (३) तामस।

प्रश्न – दुःख राहित्य कैसे होगा ?

उत्तर – अभ्यास के द्वारा उत्तम (सात्विक) सुख पाने से दुःख पूर्ण रूप से दूर होगा।

३७. यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

शब्दार्थ- यत् तत् = जो सुख। अग्रे = आरंभ में। विषमिव =विष की तरह। परिणामे = परिणाम में। अमृतोपनम् = अमृत जैसा होता है। आत्मबुद्धि प्रसादजम् = परमात्म विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होनेवाला। तत् सुखम् = वह सुख। सात्विकम् = सात्विक। प्रोक्तम् = कहा गया है।

भावार्थ - जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकाल में यद्यपि विष के तुल्य प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है, इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होनेवाला सुख सात्विक कहा गया है।

व्याख्या – आध्यात्मिक क्षेत्र में अभ्यास करते समय साधना में कई अवरोध पैदा होते हैं। ब्रह्मनिष्ठा, ध्यान एवं वैराग्य की साधना में अडचनें पैदा होती हैं। परन्तु अभ्यास अन्त में अमृत तुल्य लगेगा। आत्मसुख प्राप्त कराएगा। इसलिए साधना के आरम्भ में अगर तकलीफ होती है, कष्ट व श्रम होता है, तो भयभीत नहीं होना चाहिए। धैर्य के साथ साधना करनी चाहिए। कहा गया कि आरंभ में होनेवाला श्रम अन्त में सुखद ही होगा। साधना करते करते विषयवासनाएं

दिल से मिट जाती हैं। पुण्य कर्मों के प्रभाव के आगे वे टिक नहीं सकतीं।

किसी रोग के लिए नीम के पत्तों की गोली दी जाती है। वह कडुवी होती है। परन्तु वह रोग को मिटा देती है। चूंकि नीम की गोली कडुवी होती है, इसलिए उसे निगलना मुश्किल होता है। पर उसे निगलना आवश्यंक है। तभी वह रोग दूर हो सकता है। एक पत्थर भगवान की मूर्ति बनना चाहता है, तब उसे छेनी के द्वारा काफी श्रम उठाना पडता है। कई चोटें खाने की जरूरत पडती है। इसी प्रकार गहना बनने के पहले सुवर्ण को आग में तपना पडता है। इसी तरह परमात्मा की प्राप्ति के लिए जीव को कडी साधना करनी पडती है। अनेक जन्मों से जमे विषय सुखों को मिटाना पडता है। जाते जाते भी वे विषय सुख व्यथित करते हैं। इससे जीव को भयभीत नहीं होना चहिए। सहनशक्ति से उसे काम लेना चाहिए। साधना के मार्ग पर उसे आगे बढना चाहिए। धीरे धीरे उसका सारा श्रम दूर हो जाएगा। उसके कष्ट दूर होंगे। परमानन्द रूपी सुख उसे प्राप्त होगा। उसका जीवन सफल होगा।

एक विद्यार्थी बचपन में दिन रात श्रम करके पढता है। इसके बाद जब बडा होता है, तब नौकरी करता है। धन कमाकर सुख पाता है। इसी प्रकार अध्यात्म क्षेत्र में इन्द्रियादि को बश में करते वक्त जीव को श्रम होता है। उसे सह लेना चाहिए। भयभीत होकर उसे भागना नहीं चाहिए। इसीलिए भगवानने यहाँ सात्विक सुख का हाल बताया है। उन्होंने कहा कि विष तुल्य दुःख में अमृत तुल्य सुख के बीज निहित हैं। विष तुल्य मानकर दवा न लें, तो उसके अमृत से हाथ धोना पडेगा। अतः साधकों को इस विषय में काफी सावधान रहना चाहिए। किसी भी हालत में साधना को छोडना नहीं चाहिए। इस प्रकार साधना करना आसान मामला नहीं है। शास्त्रों में कहा गया कि ऐसी कठोर साधना में सफल होनेवाले साधक हजारों व लाखों में एकाध ही होता है। श्री बुद्धदेव तथा रामकृष्ण परमहंस जैसे पुण्यात्माओं का जीवन ईसके उदाहरण हैं। वास्तव में

आत्मसुख व दैवीसुख अमृततुल्य है। उससे आत्मसुख मिलता है। देवताओं का अमृत स्थूल देहों को कुछ समय तक जिन्दा रख सकता है। परन्तु आत्म रूप अमृत शाश्वत रूप से जीव को जनन मरण की सांसारिक बाधाओं से बचाएगा। उसे मोक्ष की प्राप्ति कराएगा। सात्विक सुख कैसे मिलेगा ? बुद्धि निर्मल हो, तो विषयों का दोष न हो, तो आत्मसुख प्राप्त हो सकेगा। "मोक्ष कहाँ है। सुख कहाँ है ? इन प्रश्नों का उत्तर भगवानने इस श्लोक में दिया। उनके कथन के अनुसार मोक्ष व दैवीसुख आसमान में नहीं है। पाताल में नहीं है। अपनी ही निर्मल बुद्धि में है।

महर्षि वसिष्ठने श्रीरामचन्द्र को भी इसी प्रकार के ज्ञान का बोध कराया। उन्होंने कहा -

न मोक्षो न भसः सृष्ठे पाताले न च भूतले।
मोक्षो हि चेतो विमलं सम्यज्ञान विबोधितं ।।
(श्री वसिष्ठगीता)

प्रश्न - सात्विक सुख के लक्षण क्या हैं।

उत्तर - आरंभ में विषतुल्य लगने पर भी अन्त में सुखदायक लगनेवाला सात्विक सुख है।

प्रश्न - सात्विक सुख जीव को कैसे मिलेगा ?

उत्तर - अनिर्मल बुद्धि से सात्विक सुख मिलेगा। अतः सुख के अभिलाषी को निर्मल बुद्धि का होना चाहिए।

प्रश्न - जीव का कर्तव्य क्या है ?

उत्तर - आध्यात्मिक साधना करते समय जो कष्ट होते हैं, उनसे डरना नहीं चाहिए। भगवान के वाक्यों पर पूर्ण विश्वास कर धैर्य से साधना करनी चाहिए। बुद्धि को विषयों के दोष से बचाकर निर्मल रखना चाहिए। तब जीव को महान् आत्मसुख प्राप्त होगा। वही मोक्ष है।

सम्बन्ध - अब राजस सुख के लक्षण बतलाते हैं -

३८. विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजस स्मृतम्।।

शब्दार्थ - यत्तत् = जो सुख। विषयेन्द्रिय संयोगात् = विषयेन्द्रियों के संयोग से। अग्रे = आरंभ में। अमृतोपमम् = अमृत के तुल्य प्रतीत होने पर भी। परिणामे =परिणाम में। विषम् इव = विष जैसा होता है। तत् सुखम् = वह सुख। राजस = राजस। स्मृतम् = कहा गया है।

भावार्थ - जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह पहले - भोगकाल में अमृत के तुल्य प्रतीत होने पर भी परिणाम में विष के तुल्य है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।

व्याख्या - विषयसुख तात्कालिक है। नश्वर है। इन्द्रियों के साथ जब विषयों का संयोग होता है, तब वह सुख होता है। फिर तुरन्त लुप्त होता है। यहाँ बताया गया कि वह आरंभ में अमृत सा लगता है। पर अन्त में विषतुल्य बन जाता है और दारुण दुःखदायक होता है। वह बडा खतरनाक है। उस अमृत में ही विष के बीज रहते हैं। उसे न छोडें, तो विष को स्वीकारना पडेगा। मुमुक्षुओं को दृश्य जगत् सम्बन्धी कोई सुख मिले, तो जानना चाहिए कि वह वास्तव में सुख नहीं है, वह तो दुःख है। मछली को पकडने के लिए छोडा जानेवाला कांटा जैसा है। तुरन्त उसे छोड देना चहिए। वह मनुष्य जीवन को नष्ट कर देता है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्णने यहाँ उन दृश्य सुखों के असली रंग को प्रकट किया है। चेतावनी देते हैं कि धोखे में मत पडो।

भगवान के ये वाक्य जीव के लिए पथ प्रदर्शक हैं। ऊपरी तडक भडक देखकर धोखे में न पडने की सलाह देते हैं। मन तथा इन्द्रियों को वश में कर आत्मा में उन्हें स्थित करने पर ही मनुष्य मोक्ष पा सकता है।

प्रश्न - राजस सुख के लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - पहले अमृत की तरह सुखकर लगता है, परन्तु अन्त में विषतुल्य बन जाता है। यही राजस सुख का लक्षण है।

सम्बन्ध - अब तामस सुख का लक्षण बतलाते हैं -

३९. यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥

शब्दार्थ - निद्रालस्यप्रमादोत्थम् = निद्रा, आलस्य, प्रमाद से उत्पन्न। यत् सुखम् = जो सुख। अग्रे च = आरंभ में। अनुबन्धे च = अन्त में। आत्मनः = अपने को। मोहनम्= मोह पैदा कराता है। तत् = वह। तामसम् = तामससुख। उदाहृतम् = कहा गया।

भावार्थ - जो सुख भोगकाल में तथा परिणाम में भी आत्मा को मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा गया है।

व्याख्या - अतिनिद्रा, आलस्य एवं मस्ती से प्राप्त होनेवाला तामससुख है। वह आरंभ, मध्य एवं अंत में भी जीव को मोह में डालता है। इसलिए वह बहुत ही निकृष्ट है। वह जीव को अज्ञान के कूप में गिरा देता है। खतरनाक है। अतः तामस सुख त्याज्य है।

प्रश्न - तामस सुख के लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - (१) निद्रा, आलस्य, मत्तता से प्राप्त सुख (२) आरंभ, मध्य एवं अंत में भी मोह पैदा करनेवाला सुख तामस सुख कहलाता है।

सम्बन्ध - इस प्रकार अठारहवें श्लोक से वर्णित मुख्य-मुख्य पदार्थों के सात्त्विक, राजस और तामस - ऐसे तीन-तीन भेद बतलाकर अब इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए भगवान् सृष्टि के समस्त पदार्थों को तीनों गुणों से युक्त

बतलाते हैं -

४०. न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।।

शब्दार्थ-प्रकृतिजैः = प्रकृति से उत्पन्न। एभीः त्रिभिः गुणैः = इन तीन गुणों से। मुक्तम् = मुक्त। सत्वम् = वस्तु। यत् स्यात् = जो है। तत् = वह। पृथिव्यां वा = भूलोक में। पुनः =फिर। दिवि = स्वर्ग में। देवेषु वा = देवताओं में। न अस्ति = नहीं है।

भावार्थ - पृथ्वी में या आकाश में अथवा देवताओं में तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से रहित हो।

व्याख्या - भगवान कहते हैं कि तीनों लोकों में हर वस्तु सत्व, रज एवं तमोगुणों से युक्त है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो उन गुणों से युक्त न हो। जीवन्मुक्त महा पुरुषों को छोडकर बाकी सब उन तीनों गुणों मे से किसी न किसी गुण से युक्त हैं। स्वर्गलोक के वासी भी त्रिगुणों से युक्त हैं। अतः सभी को कभी न कभी ज्ञान आदि प्राप्त कर गुणरहित तथा मुक्त होना चाहिए।

"प्रकृति जैः" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि इन तीनों गुणों का उद्गम स्थल प्रकृति या माया (अज्ञान) है। इन तीनों में से कोई भी गुण हृदय में हो, तो समझना चहिए कि वे अभी प्रकृति से ही युक्त हैं। अतः प्रयत्नों तथा अभ्यास के द्वारा राजस एवं तामस गुणों को पार कर सत्व गुण तक पहुँचना चाहिए। फिर क्रमशः गुणातीत आत्मस्थिति प्राप्त करनी चाहिए। वही मोक्ष है।

प्रश्न- सत्वादि त्रिगुण किससे उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर - प्रकृति (माया या अज्ञान) से उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न - यह स्थिति क्या इसी लोक की है या किसी और लोक की भी है?

(४) शुचिता (५) सहन शक्ति (६) ऋजुता (७) शास्त्रज्ञान (८) अनुभवज्ञान (९) आस्तिक भाव ये नौ कर्म ब्राह्मण स्वभाव के हैं या ऐसे स्वभाववाला ही ब्राहाण कहलाता है।

सम्बन्ध - इस प्रकार ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म बतलाकर अब क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म बतलाते हैं -

४३. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

शब्दार्थ - शौर्यम् = शूरवीरता। तेजः = तेज। धृतिः = धैर्य। दाक्ष्यम् = दक्षता। युद्धे = युद्ध में। अपलायनम् अपि च = न भागना। दानम् = दान। ईश्वर भावः च = शासन करने की शक्ति। स्वभावजं = स्वाभाविक रूप से उत्पन्न। क्षात्रं कर्म = क्षत्रिय कर्म हैं।

भावार्थ - शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना, दान देना और स्वामिभाव, ये सब के सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

व्याख्या - "युद्धेचाप्य पलायनम्" - बताया गया कि युद्ध से भागना क्षत्रिय धर्म नहीं है। बाह्ययुद्ध कभी कभी होता है। परन्तु अन्तर्युद्ध तो नित्य होता है, जीवन पर्यंत होता है। बुरा-भला, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य तथा सुर-असुर संपदा के बीच संघर्ष चलता ही रहता है। शक्तिशाली माया से यह युद्ध चलता है, अतः बहुत सावधान होकर हिम्मत के साथ यह युद्ध करना चाहिए। तभी इस युद्ध में मनुष्य विजयी होसकताहै। इसीलिए ब्रह्मतेज तथा क्षात्र वीर्य,इन दोनों को अर्जित करना चाहिए। आत्मसाक्षात्कार तथा जीवन्मुक्ति पर्यन्त मनुष्य को पीछे नहीं हटना चाहिए। इस तरह "युद्धे चाप्य पलायनम्" नामक क्षत्रिय धर्मसूत्र का अवलंबन कर हर व्यक्ति को कृतार्थ होना चाहिए।

प्रश्न - क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म क्या हैं ?

उत्तर - (१) शूर वीरता (२) तेज (३) धैर्य (४) सामर्थ्य (५) युद्ध से पीछे न हटना (६) दान (७) शासन की शक्ति, ये क्षत्रिय कर्म हैं।

सम्बन्ध - इस प्रकार क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्मों का वर्णन करके अब वैश्य और शूद्रों के स्वाभाविक कर्म बतलाते हैं -

४४. कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

शब्दार्थ - कृषि = खेती। गोरक्षा = गोपालन। वाणिज्यं = व्यापार। स्वभावजम् = स्वाभाविक रूप से उत्पन्न। वैश्यकर्म = वैश्य कर्म हैं। अपि = और। परिचर्यात्मकम् = सेवा रूप। कर्म = कर्म। शूद्रस्य = शूद्र का। स्वभावजम् = स्वाभाविक कर्म हैं।

भावार्थ - खेती, गोपालन और क्रय- विक्रयरूप व्यवहार, ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं। तथा सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है।

व्याख्या - खेती, गोपालन, व्यापार वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। इसी प्रकार सेवारूप कर्म शूद्र के स्वाभाविक कर्म हैं।

प्रश्न - वैश्य के स्वाभाविक कर्म क्या हैं ?

उत्तर - (१) खेती (२) गोपालन (३) व्यापार।

प्रश्न - शूद्र के स्वाभाविक कर्म क्या हैं ?

उत्तर - सेवा कार्य शूद्र के स्वाभाविक कर्म हैं।

सम्बन्ध - इस प्रकार चारों वर्णों के स्वाभाविक कर्मों का वर्णन करके अब भक्तियुक्त कर्मयोग का स्वरूप और फल बतालाने के लिये, उन कर्मों का किस प्रकार आचरण करने से मनुष्य अनायास परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है - यह बात दो श्लोकों में बतलाते हैं -

४५. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

शब्दार्थ - स्वे स्वे कर्मणि = अपने अपने स्वाभाविक कर्मों में । अभिरतः = तत्परता से लगा हुआ । नरः = मनुष्य । संसिद्धम् = परम सिद्धि को । लभते = पाता है । स्वकर्म निरतः =अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ । यथा = जिस प्रकार । सिद्धिम् = परम सिद्धि को । विन्दति = प्राप्त होता है । तत् श्रृणु= उसे सुनो ।

भावार्थ - अपने - अपने स्वाभाविक कर्मों में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है । अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार से कर्म करके परम सिद्धि को प्राप्त होता है, उस विधि को तू सुन ।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि अपने स्वाभाविक कर्म ईश्वर को अर्पित कर जब जीव उन्हें करता है, तब वह परमसिद्धि प्राप्त करता है । कई लोगों को शंका होती है कि कर्म से मोक्ष कैसे प्राप्त होगा ? उस शंका का समाधान भगवानने यहाँ कर दिया है । फिर अगले श्लोक में करनेवाले हैं । निष्काम भाव से कर्म करने पर चित्त शुद्ध एवं निर्मल होता है । इससे ज्ञान का उदय होता है । तब मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है । इस तरह कर्मयोग की महानता का परिचय गीताचार्य ने दिया है ।

प्रश्न - ज्ञान की योग्यता मनुष्य कैसे पा सकता है ?

उत्तर - निष्काम भाव से ईश्वर को अर्पित कर जीव जब अपने अपने कर्म करे, तो उसका चित्त शुद्ध होगा । इससे ज्ञान की योग्यता वह पाएगा ।

४६. यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

शब्दार्थ - यतः= जिससे । भूतानाम् = प्राणियों की । प्रवृत्तिः = उत्पत्ति आदि प्रवर्तन (प्रवृत्ति = होरहा है) । येन = जिससे । इदं सर्वं = यह समस्त संसार ।

ततम् = व्याप्त है। तम् = उसे। मानवः = मनुष्य।स्वकर्मणा = अपने कर्म से। अभ्यर्च्य = पूजा करके। सिद्धिम् = परम सिद्धि। विन्दन्ति = प्राप्त होता है।

भावार्थ - जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या - "यतः प्रवृत्ति र्भूतानां" - इससे स्पष्ट होता है कि समस्त जीवों का आधार परमात्मा ही है। जडवस्तु चैतन्य वस्तु की सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकती। जड प्रकृति चिद्रूप परमात्मा से ही स्पन्दित होती है। इसलिए जीवों को चाहिए कि वे समस्त जगत् के आधार परमेश्वर के प्रति निश्चल भक्ति एवं श्रद्धा रखे और उनकी आराधना करते हुए श्रेय के पात्र बनें।

"येन सर्वमिदं ततम्" - इस वाक्य का प्रयोग गीता में तीन बार किया गया। 'जिससे यह सारा संसार व्याप्त है", यह उसका अर्थ है। इससे स्पष्ट है कि संसार में ऐसी जगह कोई नहीं, जहाँ परमात्मा न हों। दूध में मक्खन की तरह वह सर्वत्र व्याप्त है। स्थूल नेत्र को वह यद्यपि दिखाई नहीं देते, तथापि ज्ञान नेत्र को अवश्य दिखाई देते हैं। सर्वत्र व्याप्त साक्षी के रूप में स्थित उस परमात्मा का स्मरण कर, उनकी समीपता का अनुभव करते हुए जीवों को भक्ति से विलसित होना चाहिए।

"स्वकर्मणा तपभ्यर्च्य" - भगवानने यहाँ कर्माचरण के द्वारा भगवान को प्राप्त करने का रहस्य बता दिया। उन्होंने कहा कि तुम दैव की आराधना करते हुए उनका स्मरण करते रहो। ईश्वर को अर्पित कर कर्म करो।अर्थात् अपने कर्मों के द्वारा ईश्वर की आराधना करो। तब तुम ज्ञान पाओगे, फिर मोक्ष प्राप्त करोगे। "कर्म करो, पर ईश्वर को अर्पित करो" कर्म के द्वारा ईश्वर की आराधना करना माने यही है।

कुछ लोग पूछते हैं कि क्या कर्म करने से मोक्ष मिलेगा। उसका जवाब

है कि हाँ, मिलेगा। कर्म में नहीं, कर्म करने की पद्धति में सब कुछ है। कर्म से भगवान की अर्चना करना ही वह पद्धति है। अर्थात् निष्काम भावना से कर्म करना चाहिए। तब कर्म का दोष मिट जाएगा। यही कर्म मार्ग का रहस्य है। इस कर्म रहस्य को भगवानने यहाँ प्रकट कर दिया है। इससे कर्म अपनी कर्तृत्व की भावना से हटकर, अपना बन्ध रूप हटाकर मोक्ष का साधन बन जाता है।लोग इस पद्धति को न जानकर ईश्वर को कर्म अर्पित न कर काम्यबुद्धि से कर्म करते हैं। इससे कर्म बंधन बन जाता है। परन्तु भगवानने स्पष्ट बता दिया कि कर्म को मोक्ष के रूप में बदल सकते हैं। इसके लिए उपाय भी बता दिया। भगवान के वाक्यों पर विश्वास कर सब कर्म ईश्वर को अर्पित करके करें, तो ज्ञान एवं मोक्ष अवश्य प्राप्त कर सकेंगे।

इस श्लोक में कर्म, भक्ति एवं ज्ञान का समुच्चय बताया गया है। जैसे - १. कर्म का आचरण - कर्म ?। (२) कर्म के द्वारा भगवान की आराधना करना - भक्ति। (३) इस प्रकार की आराधना से चित्त शुद्ध होगा। उसमें ज्ञान का उदय होगा। कर्म रूपी दिये में भक्ति रूपी तेल भरकर ध्यान रूपी बत्ती डालकर ज्ञानरूपी ज्योति जलानी चाहिए।

प्रश्न – समस्त प्राणी किनसे उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर – परमात्मा से उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न – यह संसार किनसे व्याप्त है ?

उत्तर – परमात्मा से व्याप्त है।

प्रश्न – जीव मोक्ष कैसे पा सकता है ?

उत्तर – स्वकीय कर्म से भगवान की आराधना कर, निष्काम भाव से जीव कर्म करे, तो चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान, उससे मोक्ष पाएगा।

४७. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

शब्दार्थ - स्वधर्मः = अपना धर्म । विगुणः = गुणरहित भी । अनुष्ठितान् = आचरण किये हुए। कर्म = कर्म को । कुर्वन् = करते हुए रहने पर। किल्बिषम् = पाप को । न आप्नोति = प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थ - अच्छी तरह आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता।

व्याख्या - स्वकीय कर्म करना सभी दृष्टियों से अच्छा है। निज धर्म को नहीं छोडना चाहिए। स्वकीय कर्म ईश्वर को अर्पित करके करें, तो मनुष्य पाप का भागी नहीं बनेगा। आरंभ में कठिन लगने पर भी अंत में अनन्त सुख प्राप्त करेगा। दृश्य पदार्थ आरंभ में सुखद लगते हैं। परन्तु अन्त में परमदुःख पहुँचाते हैं। अतः पर धर्म से स्वधर्म ही श्रेष्ठ बताया गया है।

प्रश्न - जीव के लिए कौन सा कर्म तथा धर्म श्रेष्ठ हैं ?

उत्तर - थोडा कठिन लगने पर भी स्वकीय कर्म ही श्रेष्ठ है।

प्रश्न - किससे मनुष्य पाप नहीं पाता।

उत्तर - स्वाभाविक कर्म एवं स्वधर्म का पालन करने से पाप नहीं पाता।

४८. सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन। सहजम् = सहज। कर्म = कर्म। सदोषमपि = दोषयुक्त होने पर भी। न त्यजेत् = नहीं त्यागना चाहिए। धूमेन = धुएं से। अग्निः इव = अग्नि की भांति। सर्वारम्भाः = सभी कर्म। दोषेण = दोष से। आवृताः हि = आवृत हैं।

व्याख्या - कर्म इन्द्रियों द्वारा किया जाता है। इसलिए वह दृश्य के अंतर्गत है।

त्रिगुणात्मक है। प्रकृति (माया) के अंतर्गत है। इसीलिए 'दोषेण' कहा गया। हर कर्म में दृश्य रूप दोष, त्रिगुणात्मक दोष रहता है। इसीलिए 'सर्वारम्भाहि' (समस्त कर्म) कहा गया। जिस प्रकार अग्नि धुएं से ढकी रहती है, उसी प्रकार सभी कर्म दृश्यदोष से ढके रहते हैं। तोभी स्वाभाविक कर्मों को नहीं छोडना चाहिए। क्योंकि निष्काम भाव तथा भगवान को अर्पित कर उन्हें करने से वे चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान एवं मोक्ष को प्राप्त कराते हैं। शुद्ध कर्म के द्वारा अशुद्ध कर्म, पुण्य कर्म के द्वारा पाप कर्म तथा निष्कामकर्म के द्वारा सकामकर्म को नष्ट कर क्रमशःसाधना की तीव्रता के द्वारा और ऊपर जाकर आत्म स्थिति में पहुँचना चाहिए।

इस विषय के बारे में दूसरे ढंग से भी विचार किया जा सकता है। जीवों के द्वारा किये गये कार्यों में पंचसूनादि अनिवार्य दोष होते हैं। जीवन की यात्रा में उन कार्यों को अवश्य करना पडता है। इसीलिए उन दोषों के निवारण के लिए पांच प्रकार के प्रायश्चित्त बने हैं।

दोष (पंचसून)	**प्रायश्चित्त (पंच महायज्ञ)**
१. अनाज पैदा करते समय होनेवाली जीव हिंसा।	१. ब्रह्मयज्ञ एवं वेदाध्ययन आदि करना।
२. चक्की पीसते समय होनेवाली जीव हिंसा।	२. पितृयज्ञ, पितृदेवों को तर्पण आदि के द्वारा तृप्त करना।
३. लकडी काटते समय और उनसे रसोई बनाते समय होनेवाली जीव हिंस।	३. देवयज्ञ, होम आदि करना।
४. जल लाते समय, उसे गरम करते समय होनेवाली जीवहिंसा।	४. भूत यज्ञ, प्राणियों को अन्न आदि अर्पित करना।
५. झाड् देते समय होनेवाली जविहिंसा।	५. मनुष्ययज्ञ, अतिथि, ब्रह्मनिष्ठ तथा दीनों को भोजन आदि से तृप्त करना।

इस प्रकार कर्मों से होनेवाले उन उन अनिवार्य दोषों को पुण्य कर्मों तथा निष्काम कर्मों के द्वारा दूर कर सकते हैं। इसके अलावा ब्रह्मविचार तथा आत्मध्यान आदि महान् पुण्य कार्मों के द्वारा जीवों के प्राकृतिक दोष दूर हो जाते हैं। इसलिए मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे अपने स्वाभाविक कार्य निष्काम भाव से करते रहें,उन्हें परमात्मा को अर्पित करें, क्रमशः हृदय को निर्मल कर ज्ञान एवं मोक्ष प्राप्त करें।

४९. असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

शब्दार्थ - सर्वत्र = सर्वत्र। आ सक्त बुद्धिः = आसक्ति रहित बुद्धिवाला। जितात्मा = जीते हुए अन्तःकरणवाला। विगतस्पृहः = स्पृहारहित। सन्यासेन = सांख्ययोग के द्वारा। परमाम् = सर्वोत्कृष्ट। नैष्कर्म्यसिद्धिम् = नैष्कर्म्यसिद्धि को। अधिगच्छति = प्राप्त होता है।

भावार्थ - सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोग के द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त होता है।

व्याख्या - गीताचार्य यहाँ से ज्ञानयोग का बोध कराते हैं। कुछ सुगुण बता कर कहते हैं कि उपर्युक्त सुगुणवाला परमात्मा में स्थित हो सकता है। वे सुगुण तीन हैं। (१) किसी में न लगने की बुद्धि (२) मन को जीतना (३) आशा का न होना।

कहा गया कि किसी भी वस्तु में किसी भी काल में बुद्धि को लगाना नहीं चाहिए। कुछ लोग कुछ विषयों के प्रति यद्यपि वैराग्य भाव से रहते हैं, तथापि कुछ विषयों के प्रति आसक्त रहते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए।

"जितात्मा" - अपने मन को जीतनेवाला सारे संसार को जीत सकता

है। बाहरी शत्रुओं के साथ अंतःशत्रुओं को भी जीतना चाहिए। नहीं तो मन काफी दुःख पहुँचाएगा। अतः विज्ञ लोगों को पहले अपने मन एवं इन्द्रियों को जीतना चाहिए।

"विगतस्पृहः" - दृश्य पदार्थों के प्रति कामना नहीं होनी चाहिए। तभी मन बाहर न दौड़कर आत्मा में स्थित रहेगा। चंचलचित्त को आत्मानुभूति कभी नहीं होती। चित्त को निर्मल रखना हो, तो पहले कामनाओं को समाप्त कर लेना चाहिए। इसीलिए विगत स्पृहः (आशा एवं इच्छाओं का न होना) कहा गया।

"नैष्कर्म्य सिद्धिम्" - मोक्ष को नैष्कर्म्यस्थिति कहा गया। अर्थात् कर्म रहित आत्मस्थिति। शरीर, इन्द्रिय एवं मन सब को पार करने की स्थिति आत्मस्थिति है। उस स्थिति में कर्म संभवित नहीं होता।वह स्थिति कर्म फल के त्याग, विषयवासनाओं के त्याग तथा संगपरित्याग से ही प्राप्त होती है। यह स्थिति मोक्ष पद प्राप्त कराती है।

'परमाम्' कहने से स्पष्ट है कि यह आत्मस्थिति सब पदों तथा सभी सिद्धियों से श्रेष्ठ है।

प्रश्न - नैष्कर्म्य स्थिति कैसे प्राप्त होगी ?

उत्तर - (१) किसी में न लगनेवाली बुद्धि से (२) मन को जीतने से, (३) आशाओं को मिटा लेने से (४) त्याग की बुद्धि से, नैष्कर्म्य स्थिति प्राप्त होगी।

प्रश्न - मोक्ष की वह स्थिति कैसी है ?

उत्तर - सभी सिद्धियों तथा सभी पदों से श्रेष्ठ है।

प्रश्न - कर्म के द्वारा नैष्कर्म्य स्थिति किस प्रकार पायी जा सकती है ?

उत्तर - फल को त्यागकर कर्म करने से चित्त शुद्ध होगा। मन तथा इन्द्रियों के

निग्रह से जीव नैष्कर्म्यस्थिति प्राप्त कर सकेगा।

५०. सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन। सिद्धिम् = परम सिद्धि को। प्राप्तः = प्राप्त करनेवाला। यथा = जिस प्रकार। ब्रह्म = परमात्मा को। आप्नोति = प्राप्त करता है। तथा = उस प्रकार के। ज्ञानस्य = ज्ञान की। परा = श्रेष्ठ। निष्ठा = निष्ठा। या = जो है। समासेन एव = संक्षेप में ही। मे = मुझसे। निबोध = समझ लो।

भावार्थ - जो कि ज्ञानयोगकी परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य सिद्धि को जिस प्रकार से प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होता है, उस प्रकार को हे कुन्तीपुत्र! तू संक्षेप में ही मुझसे समझ।

व्याख्या - भगवानने कहा कि परब्रह्म को पाने का विधान एवं ज्ञान की पराकाष्ठा के बारे में बताता हूँ। चूंकि गीता समाप्त होरही है, अतः गीता का सार संक्षेप में बताया जा रहा है। इसलिए इस प्रसंग का महत्त्व अधिक है। युद्ध का आरंभ होनेवाला था। समय कम था। इसलिए संभव है कि संक्षेप में भगवानने बताना चाहा हो। अगले तीन श्लोक गीता सार एवं संक्षिप्त गीता के नाम से प्रसिद्ध हैं।

५१. बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥

५२. विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥

५३. अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

शब्दार्थ - विशुद्धया = विशुद्ध। बुध्या = बुद्धि से। युक्तः = युक्त। धृत्या = धैर्य से। आत्मानाम् = मंन को। नियम्य च = निग्रह कर। शब्दादीन विषयान् = शब्दस्पर्श

आदि विषयों को। त्यक्त्वा = छोडकर। रागद्वेषो = राग, द्वेष को। व्युदस्य च = छोडकर। विविक्तसेवी = एकांतस्थल में रहनेवाला। लघ्वाशी = मिताहारी। यतवाक्कायमानसः = वाक्, शरीर, मन को वश में करनेवाला। नित्यम् = नित्य। ध्यानयोग परः = ध्यान और योग में लीन रहनेवाला। वैराग्यम् = वैराग्य को। समुपाश्रितः = आश्रय लेनेवाला। अहंकारम् = घमंड। बलम् = बल। दर्पम् = दर्प। कामम् = काम भाव। क्रोधम = क्रोध। परिग्रहम् =परिग्रह। विमुच्य = छोडकर। निर्ममः = ममतारहित। शांतः = शांत। ब्रह्मभूयाय = ब्रह्म स्वरूप। कल्पते = पात्र होता है।

भावार्थ - विशुद्ध बुद्धि से युक्त तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयों का त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारण शक्ति के द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियों का संयम करके मन, वाणी और शरीर को वश में कर लेनेवाला, राग-द्वेष को सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ वैराग्य का आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोग के परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्म में अभिन्नभाव से स्थित होने का पात्र होता है।

व्याख्या - ये तीनों श्लोक गीतासार के नाम से प्रख्यात हैं। मुक्ति के साधन सब इनमें हैं। इन तीन श्लोकों में बताये गए साधनों का अनुष्ठान किया जाय, तो मनुष्य ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है। साधनों का विधान तथा उनके फलों का उल्लेख यहाँ किया गया है। ब्रह्म में ऐक्य होने से जो महोन्नत फल मिलेंगे, उन्हें हासिल कर मुमुक्षुओं को अपना जीवन चरितार्थ कर लेना चाहिए।

विशुद्धया -शुद्धया न कह कर विशुद्धया कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि बुद्धि को थोडा बहुत नहीं, पूर्ण रूप से विशुद्ध रखना चाहिए।

मन आम तौर पर वश में नहीं होता। उसे जीतने एवं वश में लाने के

लिए धैर्य अत्यंत आवश्यक है। धैर्यवान व्यक्ति ही मन को वश में करके आत्मा को प्राप्त करता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में मन और इन्द्रियों को वश में न कर सकें, तो कोई भी विजय पा नहीं सकता। साधनक्रम में मन का संयमन प्रधान है। 'नियम्य' कह कर मन के निग्रह का आदेश दिया गया है। जो लोग शब्द आदि दृश्य विषयों के पीछे दौडते हैं, वे कभी भी आत्मानुभव पा नहीं सकते। बहिर्मुखी मन को अंतर्मुखी बनाकर आत्मा के ध्यान में लीन रहना चहिए।

"विवक्त सेवी" एकांत स्थल में निवास करना चाहिए। साधना करते समय लोगों के बीच में रहें, तो चित्त अस्थिर बनेगा। इसीलिए एकांतस्थल में ध्यान आदि करने का आदेश दिया गया।

"लघ्वाशी" -मिताहार लेना चाहिए। ज्यादा खाने से स्वास्थ्य खराब होगा। ध्यान भी ठीक तरह से नहीं चलेगा। शरीर जितना हलका रहे, उतना अच्छा है। पर शुष्क उपवास आदि श्रेयोदायक नहीं हैं। आहार के बारे में साधक को सचेत रहना चाहिए। गीता में भगवानने आहार के बारे में कई बार बताया। गीता की समाप्ति के अवसर पर भगवानने साधकों को फिर सचेत किया है। गीता के ७०१ श्लोकों का सार इन तीन श्लोकों में भगवान बतारहे हैं। ऐसे तीन महत्त्वपूर्ण श्लोकों में 'आहार' का भी उल्लेख किया गया, तो समझ सकते हैं कि साधना के क्षेत्र में सात्विक आहार का कितना बडा महत्त्व है।

"ध्यान योग परो नित्यं" - नित्यं कहने से स्पष्ट होता है कि साधक को हमेशा ध्यान में लीन रहना चाहिए। कभी ध्यान, कभी लौकिक मामले, कभी स्मरण, चिन्तन तथा कभी सैर सपाटे यह ढंग ठीक नहीं है। आरंभ में यह स्थिति मुश्किल हो सकती है, मगर अभ्यास करते करते साधक इस स्थिति में पहुँच सकता है।

"वैराग्यं समुपाश्रितः" - श्रितः = आश्रित।

उपाश्रितः = और अच्छी तरह आश्रित।

समुपाश्रितः = खूब अच्छी तरह आश्रित।

इससे स्पष्ट होता है कि साधकों को परिपूर्ण रूप से वैराग्य का आश्रय लेना चाहिए। मंद वैराग्य साधक को एक ही झटके में गिरा देता है। श्री शंकराचार्यने कहा भी है -

आपात वैराग्य वतो मुमुक्षून् भवाब्धिपारं प्रतियातुमुद्यतान्।
आशाग्रहो मज्जयतेऽन्तराले निगृह्य कंठं विनिवर्त्य वेगात्॥

(विवेक चूडामणि - श्री शंकराचार्य)

अर्थात् मंद वैराग्यवाले मुमुक्षुओं का कंठ भवसागर में आशारूपी मकर कसकर जकड लेता है और जल्दी डुबो देता है।

'बलम्' - यहाँ बलम् का मतलब दैवीबल एवं पारमार्थिक बल नहीं, असुरबल, पशुबल एवं काम क्रोध आदि का बल है। इन्हें त्याग देना चाहिए। सत्कार्य के काम आनेवाला बल उत्तम है, पर दुष्कार्य के काम आनेवाला बल अधम है। अतः दैवबल को ही अपनाना चाहिए।

'कामं- क्रोधम्'' - ये दोनों शब्द गीता में कई बार प्रयुक्त हुए हैं। क्योंकि क्रोध का मायका 'काम' है। इन दोनों को पूर्ण रूप से हृदय से निकाल देना चाहिए।

''परिग्रहम्'' - परिग्रह का मतलब है दूसरों से वस्तुओं को ग्रहण करना। शरीर के लिए आवश्यक पदार्थ भिक्षा आदि के द्वारा साधक को स्वीकारना चाहिए। बाकी पदार्थ दूसरों से लेना नहीं चाहिए। कयों कि परिग्रह चित्त को भ्रमित करता है और विषय वासना ओं तथा कामनाओं में डाल देता है। अतः उसे त्याग देना चाहिए।

''परिग्रहम्'' - परिग्रह का मतलब है दूसरों से वस्तु ओं को ग्रहण करना। शरीर के लिए आवश्यक पदार्थ भिक्षा आदि के द्वारा साधक को

स्वीकारना चाहिए। बाकी पदार्थ दूसरों से लेना नहीं चाहिए। क्योंकि परिग्रह चित्त को भ्रमित करता है और विषय वासनाओं तथा कामनाओं में डाल देता है। अतः उसे त्याग देना चाहिए।

'विमुच्य' कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि अहंकार आदि सभी दुर्गुणों को त्याग देना चाहिए। उपर्युक्त साधनों में निष्णात व्यक्ति मोक्ष के लिए योग्य माने गये। अतः मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे उपर्युक्त सभी साधनों को आचरण में ले आवें और ब्रह्म को प्राप्त करें। ये तीनों श्लोक मुमुक्षुओं के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इन्हें कंठस्थ कर लेना चाहिए। इन साधनों में से कुछ ग्राह्य हैं, तो कुछ त्याज्य हैं। अर्थात् औषध एवं पथ्य दोनों बताये गए हैं। दोनों के प्रयोग से ही भवरोग ठीक होगा।

प्रश्न – ब्रह्मसाक्षत्कार के लिए किन किन साधनों का प्रयोग करना चाहिए ? कैसे बर्ताव करना चाहिए ?

उत्तर – १. बुद्धि को निर्मल बना लेना चाहिए। (२) धैर्य के साथ इन्द्रिय एवं मन को वश में कर लेना चाहिए। (३) शब्द स्पर्श आदि विषयों को छोड देना चाहिए। (४) रागद्वेष को छोड देना चाहिए। (५) एकांत स्थल का आश्रय लेना चाहिए। (६) मिताहार लेना चाहिए। (७) वाक्, शरीर एवं मन को वश में रखना चाहिए। (८) सदा ध्यानयोग में लीन रहना चहिए। (९) वैराग्य का आश्रय लेना चाहिए। (१०) अहंकार, काम, क्रोध, दर्प, परिग्रह आदि छोडना चाहिए। (११) ममकार को छोडना चाहिए। (१२) शान्त चित्त रहना चाहिए।

प्रश्न – इन्द्रिय एवं मन को कैसे वश में कर लेना चाहिए ?

उत्तर – धैर्य से कर लेना चाहिए।

प्रश्न – ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योग्य कौन है ?

उत्तर - उपर्युक्त सुगुणोंवाले ब्रह्म की प्राप्ति के योग्य हैं।

सम्बन्ध - इस प्रकार अङ्ग- प्रत्यङ्गोसहित संन्यास का यानी सांख्ययोग का स्वरूप बतला कर अब उस साधनद्वारा ब्रह्मभावको प्राप्त हुए योगी के लक्षण और उसे ज्ञानयोग की परानिष्ठारूप परा भक्ति का प्राप्त होना बतलाते हैं -

५४. ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

शब्दार्थ - ब्रह्मभूतः = ब्रह्मरूप प्राप्त। प्रसन्नात्मा = प्रसन्नचित्त। न शोचति = किसी के बारे में नहीं सोचता। नकांक्षति = किसी की कांक्षा नहीं करता। सर्वेषु भूतेषु = समस्त प्राणियों में। समः = सम बुद्धि से। पराम् = उत्कृष्ट। मद्भक्तिम् = मेरी भक्ति को। लभते = प्राप्त करता है।

भावार्थ - फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में एकीभाव से स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसी के लिए शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियों में समभाववाला योगी मेरी परा भक्ति को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या - निर्मलचित्तवाला ही ब्रह्मसाक्षात्कार पा सकता है। मलिनचित्तवाला पा नहीं सकता। इसीलिए 'प्रसन्नात्मा' कहा गया। इस श्लोक में ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त करनेवाले का यथार्थव्यवहार बताया गया है।

"न शोचति न कांक्षति" - साधक जब जानता है कि यह सारा दृश्य जगत् अपने में ही कल्पित है, तब वह किसी की चिन्ता नहीं करता और किसी की कांक्षा भी नहीं करता।

"समः सर्वेषु भूयेषु" - आत्मानुभूति एवं ब्रह्मानुभूति प्राप्त साधक समस्त जीव जगत् के प्रति समभावना रखता है। समबुद्धि से व्यवहार करता है। भगवान कहते हैं कि ऐसे ब्रह्मज्ञानी मेरी भक्ति पाता है। "मद्भक्तिं लभते पराम्"। इससे स्पष्ट होता है कि भक्ति की पराकाष्ठा एवं ज्ञान में कोई भेद नहीं है।

भक्ति दो प्रकार की होती है (१) सामान्य भंक्ति (२) पराभक्ति। दूसरी पराभक्ति केवल ज्ञान की निष्ठा के समान होती है।

श्री शंकराचार्य के कथन "स्वस्वरूपानुसंधानं भक्ति रित्यभिधीयते" के अनुसार आत्मतत्व का अनुसंधान ही पराभक्ति का लक्षण है। अतः पराभक्ति एवं ज्ञान में अन्तर नहीं है। यह भी स्पष्ट होता है कि परमज्ञानी के हृदय में आत्मदेव के प्रति अनन्यभक्ति रहती है।

प्रश्न - ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त महात्मा कैसा रहता है ?

उत्तर - (१) निर्मल शांत मन का होता है (२) किसी के बारे में दुःख नहीं करता (३) कुछ भी नहीं चाहता (४) सभी भूतों के प्रति समभावना रखता है। सभी को अपने समान मानता है।

प्रश्न- ब्रह्मज्ञानी किसे पाता है ?

उत्तर - उत्कृष्ट दैवभक्ति पाता है।

५५. **भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।**
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

शब्दार्थ - भक्त्या = भक्ति से। माम् = मुझे। तत्वतः = यथार्थरूप से। यावान् =मैं जो हूँ। यः च अस्मि=कैसा हूँ। अभिजानाति = जानता है। ततः = इससे। माम् = मुझको। तत्वतः = यथार्थरूप से। ज्ञात्वा = जानकर। तदनन्तरम् = इसके बाद। विशते = (मुझमें) प्रवेश करता है।

भावार्थ - उस परा भक्ति के द्वारा वह मुझ परमात्मा को, मैं जो हूँ और जितना हूँ ठीक वैसा का वैसा तत्त्व से जान लेता है। तथा उस भक्ति से मुझको तत्त्व से जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

व्याख्या - पिछले श्लोक में बताया गया कि ज्ञान से भक्ति पैदा होती है। इस श्लोक में बताया गया कि भक्ति से ज्ञान पैदा होता है। इससे स्पष्ट है कि भक्ति

और ज्ञान अलग नहीं हैं। भक्तिरूपी पुष्प ही ज्ञानरूपी फल के रूप में बदलता है।

'माभिजानाति' कहने से स्पष्ट है कि भक्ति से मनुष्य भगवान को अच्छी तरह जान पाता है।

''तत्वतः'' - भगवान को कई लोग कई तरह से जानते हैं। भक्ति के द्वारा परमात्मा को यथार्थ रूप से जान पाते हैं।

''विशते तदनन्तरम्'' - भगवत्स्वरूप या आत्मतत्व को भक्ति के द्वारा यथार्थ रूप में जानने के बाद मनुष्य उस स्वरूप में प्रवेश करता है। फिर ब्रह्म रूप बन जाता है। भगवान का यथार्थ ज्ञान भक्ति से ही प्राप्त होता है। इससे दो मुख्य अंश ज्ञात होते हैं।

(१) ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है।

(२) ज्ञान भक्ति से ही प्राप्त मोक्ष के लिए भगवान की भक्ति सभी जीवों के लिए अत्यावश्यक है।

प्रश्न - भगवान को मनुष्य कैसे जान पाता है ?

उत्तर - भक्ति के द्वारा जान पाता है।

प्रश्न - जानने के बाद वह क्या करता है ?

उत्तर - भगवान में प्रवेश करता है। ब्रह्म में मिलकर एक हो जाता है।

प्रश्न - ब्रह्म में कैसे एक हो सकता है ?

उत्तर - भगवान के तत्व के ज्ञान से एक हो सकता है। ऐसा ज्ञान भक्ति से प्राप्त होता है। अतः भक्ति से ज्ञान तथा ज्ञान से मोक्ष जीव को प्राप्त होता है।

५६. सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

शब्दार्थ - सर्व कर्माणि = समस्त कर्मों को। सदा = हमेशा। कुर्वाणः अपि = करते हुए भी। मद्व्यपाश्रयः = मेरे ही आश्रित। मत्प्रसादात् = मेरे अनुग्रह से। अव्ययम् = नाशरहित। शाश्वतंपदम् = शाश्वतमोक्ष का पद। आप्नोति = पाता है।

भावार्थ - मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या - यहाँ बताया गया कि भक्ति से कर्म करने पर भगवान का अनुग्रह प्राप्त होगा और जीव को मोक्ष प्राप्त होगा। 'सर्वकर्माण्यपि' कहा गया। इसका अर्थ करने योग्य समस्त कर्म है, न कि दोषयुक्त कर्म। क्योंकि दोषयुक्त कर्म निषिद्ध हैं। जो साधक इन्द्रियों के द्वारा कर्म करते हुए, मन से उन्हें भगवान को समर्पित करेगा, वह भगवान के अनुग्रह के पात्र बनेगा। इससे उसे मोक्ष आसानी से प्राप्त होगा। सिर पर जल का कुंभ रखकर स्त्रियाँ नृत्य करती हैं। यद्यपि वह पैरों से नाचती हैं, हाथों से हावभाव दिखाती हैं, तथापि उसका ध्यान सिर पर स्थित जल के कुंभ पर रहता है। इसी प्रकार सांसारिक कर्म करते रहने पर भी जिसका मन भगवान पर ही लगा रहता है, वह भगवान के अनुग्रह का पात्र बनकर मुक्ति पासकता है। भगवान की शरण में न जाकर, फल को भगवान के चरणों पर अर्पित न कर, किये जानेवाले काम्य कर्मों से जीव बन्धनों में बंधकर मोक्ष नहीं पा सकेगा।

"मत्प्रसादात्" कहा गया। मतलब यह कि परमात्मा के अनुग्रह के बिना इस मायाजाल से कोई छूट नहीं सकता। मायाधीश ईश्वर के अनुग्रह के बिना मायाधीन मनुष्य माया को पार नहीं कर सकता। अतः परमात्मा का अनुग्रह पहले प्राप्त करना चाहिए। भगवान तभी अनुग्रह करेंगे, जब जीव समर्पित भाव से भगवान् की शरण में जाकर उनका ध्यान एवं स्मरण करेंगे। जो उनके आश्रय में जाएंगे, उन पर वे अनुग्रह करेंगे। अतः सभी साधकों को चाहिए कि भगवान

की शरण में जाकर, भगवान की प्रीति करके कर्म करें और उन्हें और उनके फल को भगवान के चरणों में समर्पित करें। इससे शाश्वत मोक्ष प्राप्त होगा। सभी को उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न - मोक्ष कैसा है ?

उत्तर - मोक्ष शाश्वत है। नाशरहित है।

प्रश्न - वह कैसे प्राप्त होगा ?

उत्तर - भगवान के अनुग्रह से प्राप्त होगा।

प्रश्न - भगवान का अनुग्रह कैसे प्राप्त होगा ?

उत्तर - समस्त कार्य करते हुए भी भगवान की शरण में जाकर उन्हें अर्पित कर कार्य करते रहें, तो भगवान का अनुग्रह प्राप्त होगा।

प्रश्न - मोक्ष पाने के लिए क्या कर्म छोडना चाहिए ?

उत्तर - नहीं। कार्य करते रहने पर भी, भगवान में मन को लीन करके रखें, तो उनके अनुग्रह से जीव को शाश्वत मोक्ष मिलेगा। अतः भगवान की भक्ति एवं निष्कामकर्म का आचरण आवश्यक है।

प्रश्न - कर्म कैसे करना चाहिए ?

उत्तर - भगवान का आश्रय लेकर भगवान को प्रिय लगनेवाले निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए और उन्हें ईश्वर को अर्पित करना चाहिए।

प्रश्न - भक्तिमय निष्काम कर्म के आचरण से क्या प्राप्त होगा ?

उत्तर - भगवान का अनुग्रह प्राप्त होगा। उस अनुग्रह से मोक्ष मिलेगा।

५७. चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

शब्दार्थ – सर्व कर्माणि = समस्त कर्मों को। चेतसा = विवेक बुद्धि से। मयि = मुझमें। सन्यस्य = समर्पित कर। मत्परः = मुझ ही को परम प्राप्य मान कर। बुद्धियोगम् = एकाग्रचित् से तत्व विचार का। उपाश्रित्य = अवलंबन कर। सततम् = सदा। मच्चित्तः = मुझमें चित्त स्थित करनेवाला। भव = बनो।

भावार्थ – सब कर्मों का मन से मुझ में अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योग को अवलम्बन करके मेरे पारायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।

व्याख्या – शरीर के कर्म करते रहने पर भी मन से उन सब कर्मों को भगवान की सेवा में समर्पित कर उन्हीं में मन को स्थित करना चाहिए। 'चेतसा' कर्मफल के सन्यास के बारे में कहा गया, न कि कर्म सन्यास के बारे में। अतः शरीर के द्वारा कर्म करते हुए भी, मन से उन कर्मों और उन कर्मों के फल को ईश्वरार्पण करें, तो वह मोक्ष का साधन बनेगा, इसीलिए यहाँ चेतसा कहा गया।

"बुद्धियोगम्" –१० वें अध्याय में भगवान श्रीकृष्णने कहा कि प्रीति से जो मेरा भजन करेगा उसे मैं बुद्धियोग प्रदान करूँगा। भगवान की कृपा से ही भक्त को चित्त की एकाग्रता तथा तत्वविचार की शक्ति प्राप्त होगी। यहाँ बताया गया कि निरंतर चित्त को परमात्मा में स्थित करना चाहिए। साधकों को 'सततम्' शब्द के प्रयोग पर ध्यान देकर दैवस्मृति में रत रहना चाहिए।

"मत्सरः" - संसार के समस्त दृश्यपदार्थ नश्वर हैं। अतः विज्ञ लोगों को परमात्मा को परमगम्यमान कर उन्हीं का प्राप्य मानना चाहिए।

प्रश्न – परमात्मा की प्राप्ति के लिए जीव को क्या करना चाहिए ?

उत्तर – (१) चित्त से समस्त कर्म भगवान को अर्पित करना चाहिए। (२) परमात्मा को प्राप्य बनाना चाहिए। (३) बुद्धियोग को अपनाना चाहिए। (4) भगवान में चित्त को स्थित करना चाहिए।

प्रश्न – भगवानने कर्म सन्यास बताया या कर्म फल का सन्यास ?

उत्तर – शरीर से कर्म करते हुए भी मन से उनके फलों को भगवान की सेवा में समर्पित करना चाहिए। अतः यहाँ कर्म फल के सन्यास के बारे में कहा गया न कि कर्म सन्यास के बारे में।

प्रश्न – मनुष्य को किसे परमप्राप्य बनाना चाहिए ?

उत्तर – परमात्मा को परमप्राप्य बनाना चाहिए।

प्रश्न – निरंतर चित्त को किस में लगा रखना चाहिए ?

उत्तर – चित्त को निरंतर आत्मा में लगा रखना चाहिए।

५८. मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥

शब्दार्थ – मच्चित्तः = मुझमें चित्त स्थित कर। मत्प्रसादात् = मेरे अनुग्रह से। सर्वदुर्गाणि = समस्त सांसारिक दुःखों को। तरिष्यन् = पार कर सकते हो। अथ =फिर। त्वम्=तुम। अहंकारात्=अहंकार से। न श्रोष्यसि चेत् = न सुनोगे तो। विनङ्क्ष्यसि = भ्रष्ट होओगे।

भावार्थ – उपर्युक्त प्रकार से मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपा से समस्तसंकटों को अनायास ही पार कर जायगा और यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को न सुनेगा, तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थ से भ्रष्ट हो जायगा।

व्याख्या – दुनिया का हर आदमी चाहता है कि उसे दुःख न मिलें, सुख ही मिलें। परन्तु इसके लिए आवश्यक साधना नहीं करते। भगवानने यहाँ स्पष्ट कह दिया कि आवश्यक साधना क्या है ? उन्होंने कहा कि जो आदमी दृश्य जगत् के नश्वर पदार्थों से हृदय को हटा कर आत्मा में ही स्थिर करते हैं, उन्हें भगवान के अनुग्रह से दैवीसुख प्राप्त होंगे। यही जीव चाहते हैं। अतः सब लोगों

को भगवान के वाक्यों पर विश्वास करके अपने हृदय को आत्मा में स्थिर करना चाहिए। अपने जीवन को कृतकृत्य बनाना चाहिए।

"दुर्गाणि" - दुर्ग माने किला है याने अवरोध। मायाने जीव के चारों तरफ कई अवरोधों, विघ्नों तथा रोडों को खडा कर दिया। इस किले को ढहा देने के लिए लौकिक उपाय काम नहीं आते। माया को भेदने के लिए मायाधीश की शरण में जाना चाहिए। अतः दुःख राहित्य एवं सुख की अनुभूति पाने के लिए परमात्मा के चरणों की शरण में जाना चाहिए। भगवान्ने कहा है कि मत्प्रसादात् अर्थात् मेरे अनुग्रह से दुःखों को पारकर सकते हो। अपने भक्तों पर ही भगवान अनुग्रह करते हैं। पेड के नीचे जो जाते हैं उन्हीं को वह छाया देता है। अतः सुख की अनुभूति पाने के लिए लोगों को परमात्मा की शरण में जाना चाहिए।

यहाँ यह भी बताया गया है कि अगर कोई अहंकार, धनमद या ओहदे के बल पर भगवान के वाक्यों को अनसुनी कर दे, उनकी बातों पर विश्वास न कर अपनी ही वक्र गति से चलें, तो वे भवसागर में ही गोते लगाते रहेंगे।

प्रश्न - जीव के सांसारिक दुःख कैसे दूर होंगे ?

उत्तर - भगवान में चित्त को स्थिर कर, भगवत्परायण रहे तो दुःख दूर होंगे।

प्रश्न - भगवान के वाक्य न सुनें तो उनकी गति क्या होगी ?

उत्तर - दुर्गति होगी। सांसारिक दुःख भोगते रहेंगे।

प्रश्न - उनके न सुनने का कारण क्या है ?

उत्तर -अहंकार तथा घमंड से फूल कर भगवान के वाक्य अज्ञानी नहीं सुनते

५९. यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

शब्दार्थ - यदि = अगर। अहंकारम् = अहंकार का। आश्रित्य = आश्रय लेकर। न योत्स्ये इति = युद्ध न करने को। मन्यसे = सोचोगे तो। एषः ते व्यवसायः = यह तुम्हारा प्रयत्न। मिथ्या = व्यर्थ होगा। प्रकृतिः = तुम्हारा स्वभाव ही। त्वाम् = तुम को। नियोक्ष्यति = नियोजित करेगा।

भावार्थ - जो तू अहङ्कार का आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है, क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबरदस्ती युद्ध में लगा देगा।

व्याख्या - कर्तृत्व की भावना को त्याग कर क्षत्रियोचित धर्म युद्ध करने का आदेश पहले भगवानने अर्जुन को दिया। अब कहते हैं कि हे अर्जुन! अहंकार के कारण अगर तुम मेरे आदेश का उल्लंघन करोगे तो तुम्हारा प्रयत्न व्यर्थ होगा। क्योंकि तुम्हारी क्षत्रिय सम्बन्धी प्रकृति जबर्दस्ती तुम्हें युद्ध के लिए मजबूर करेगी। याद रखने की बात यह कि ये वचन भविष्य का ज्ञान रखनेवाले भगवान श्रीकृष्ण के मुंह से निकले हैं।

६०. **स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।**
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यवशोऽपि तत्॥

शब्दार्थ - कौन्तेय = हे अर्जुन। स्वभावजेन = स्वाभाविक। स्वेन = तुम्हारे। कर्मणा=कर्म से। निबद्धः = बंधा हुआ। मोहात् = अविवेक से। यत् = जिसे। कर्तुम = करने को। न इच्छसि = नहीं चाहते। तत् अपि = उसे भी। अवशः अपि = विवश होकर। करिष्यसि = करोगे।

भावार्थ - हे कुन्तीपुत्र! जिस कर्म को तू मोह के कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा।

व्याख्या - मनुष्य अपने कर्म से बंधा हुआ है। त्रिकालज्ञ भगवानने जान लिया कि अर्जुन का पूर्वजन्म संस्कार युद्ध करने का है। इसलिए भगवानने कहा कि हे अर्जुन! तुम युद्ध करना न चाहो तो भी पूर्व जन्म संस्कार से तुम युद्ध करोगे ही।"

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि पुरुष प्रयत्न की जरूरत नहीं। पूर्व जन्म संस्कार तथा इह जन्म का पुरुष प्रयत्न इन दोनों में हमेशा संघर्ष चलता रहता है। इह जन्म का पुरुष प्रयत्न बलवत्तर हो तो पूर्वजन्म संस्कार उससे हार जाता है। लोगों को पूर्वजन्म संस्कार ज्ञात नहीं होते। इसलिए इह लोक के पुरुष प्रयत्न का अभ्यास जीव को करना चाहिए। पुरुष प्रयत्न बलवत्तर एवं प्रभावशाली हो तो पूर्व जन्म संस्कार का प्रभाव कुछ नहीं कर सकता। पर इह लोक का पुरुष प्रयत्न बलवत्तर न हो तो पूर्व जन्म के संस्कार का ही पलडा भारी रहेगा। अतः मनुष्य को सचेत होकर इस जन्म में दैवी संस्कारों का अभ्यास अत्यधिक करना चाहिए।

प्रश्न – मनुष्य किससे बंधा हुआ है ?

उत्तर – अपने पूर्वजन्म के कर्म से बंधा हुआ है।

प्रश्न – उससे कैसे मुक्त होगा ?

उत्तर – इस जन्म के सत्कर्मरूपी पुरुष प्रयत्न के द्वारा मुक्त हो सकेगा।

सम्बन्ध – पूर्व श्लोकों में कर्म करने में मनुष्य को स्वभाव के अधीन बतलाया गया। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि प्रकृति या स्वभाव जड है, वह किसीको अपने वश में कैसे कर सकता है ? इसलिये भगवान् कहते हैं -

६१. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

शब्दार्थ – अर्जुन = हे अर्जुन। ईश्वरः = ईश्वर। मायया = माया से। सर्व भूतानि = समस्त प्राणियों को। यन्त्रा रूढानि (इव) = यन्त्र पर। सर्वभूतानाम् = समस्त प्राणियों के। हृद्देशे = हृदय प्रदेश में। तिष्ठति = स्थित है।

भावार्थ – हे अर्जुन ! शरीर-रूप यन्त्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमण कराता हुआ

व्याख्या - ईश्वर कहाँ है ? क्या कररहा है ? इन प्रश्नों का उत्तर यहाँ दिया गया है। यह समझना गलत है कि भगवान कहीं दूर है। वह जीव के अति समीप उसकी आत्मा में बसा हुआ है। इसीलिए 'सर्वभूतानां हृद्देशे' कहा गया है। अतः पापाचार त्याग कर भक्ति के साथ- व्यवहार करना चाहिए। ईश्वर, प्रभु, शासक तथा नियामक हैं। उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर जीव धर्म को हानि पहुँचावे तो उसे ईश्वर का दण्ड भोगना पडता है। अतः लोगों को चाहिए कि वे अंदर एवं बाहर सर्वत्र ईश्वर को समीप मानें धर्म और सत्य का उल्लंघन न करें। कहा गया कि ईश्वर सभी प्राणियों में है। चींटी, मच्छर, पशु, पक्षी, चांडाल, ब्रहाम्ण सभी में ईश्वर हैं। लेकिन जिनका चित्त निर्मल और भक्ति से भरा रहेगा, उसमें तो भगवान सदा विद्यमान रहेंगे और अपना प्रकाश ज्यादा प्रसारित करेंगे।

भगवान माया के द्वारा सभी जीवों को सांसारिक यंत्र में चक्कर कटवाते हैं। जीव सांसारिक चक्र में फंस कर उस चक्र के साथ विवश होकर चक्कर काटते रहते हैं। इस चक्र से छूटने का उपाय है, भगवान की शरण में जाना।

''मायया'' कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि ईश्वर इस संसार चक्र को घुमा रहे हैं, पर चूंकि माया के द्वारा वह परिभ्रमण कराते हैं, इसलिए उन पर कर्तृत्व का भार नहीं पडता। वे केवल साक्षी मात्र बने हुए हैं।

प्रश्न - ईश्वर कहाँ रहते हैं ?

उत्तर - समस्त प्राणियों में ईश्वर रहते हैं।

प्रश्न - वे क्या करते हैं ?

उत्तर - इस संसार चक्र में लोगों को धुमारहे हैं।

प्रश्न - किसके द्वारा घुमाते हैं ?

उत्तर - माया की शक्ति के द्वारा घुमाते हैं।

प्रश्न - किस प्रकार ?

उत्तर – यंत्र में फंसे कीडों की तरह।

६२. **तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।**
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

शब्दार्थ – भारत = हे अर्जुन। सर्व भावेन = सब तरह से। तम् एव = उस ईश्वर की ही। शरणं गच्छ = शरण लो। तत् प्रसादात् = उनके अनुग्रह से। पराम् = उत्कृष्ट। शान्तम् = शान्ति। शाश्वत =शाश्वत रूप से। स्थानम् = मोक्ष पद। प्राप्स्यसि = पासकते हो।

भावार्थ – हे भारत ! तू सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही शरण में जा। उस परमात्मा की कृपा से ही तू परम शान्ति को तथा सनातन परमधाम को प्राप्त होगा।

व्याख्या – पिछले श्लोक में बताया गया कि जीव संसार चक्र में फंस कर परिभ्रमण कररहे हैं। अब प्रश्न उठता है कि वे उससे कैसे छूटें ? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया गया है। बताया गया कि सभी प्राणियों के हृदय में जो परमात्मा विद्यमान हैं उनकी सब तरह से शरण लेना ही बंधमुक्ति का एकमात्र उपाय है। यंत्र को रोकना हो तो उसे चलानेवाले की शरण लेनी चाहिए। इस संसाररूपी यंत्र को चलानेवाले तो स्वयं सर्वेश्वर हैं। पिछले श्लोक में बताया गया कि "ईश्वरः भ्रामयन् सर्व भूतानि यंत्रारूढानि"। अतः जीव को उस ईश्वर की ही शरण लेनी चाहिए। नहीं तो माया जीव को राह नहीं देती। माया की शक्ति एकमात्र भगवान की शक्ति के समक्ष झुकती है। सांसारिक शक्तियाँ माया की शक्ति के सामने झुकती हैं। अतः मायाधीन जीवों को मायाधीश की शरण में जाने पर ही संसारचक्र से छुटकारा मिल सकता है। यही बात इस श्लोक में बतायी गयी है।

"सर्वभावेन" – इससे स्पष्ट होता है कि उस हृदयस्थ परमात्मा की शरण में पूर्ण मन से जीव को जाना चाहिए। शरीर, वाक् एवं मन से पूर्णरूप से भगवान की सेवा में लग जाना चाहिए। दृश्य जगत् पर मन को जाने नहीं देना चाहिए।

"तत्प्रसादात्" - मोक्ष के लिए भगवान का अनुग्रह अत्यावश्यक है। उसे बिना प्राप्त किए माया का बन्धन नहीं टूटेगा। यहाँ बताया गया कि भगवान की शरण में जाने से जीव को परमशांति प्राप्त होगी। ऐसे सर्वोत्तम स्थान की प्राप्ति के लिए मूल्य चुकाना पडेगा। दृश्य पदार्थों कीकामना त्याग कर पूर्णभाव से परमात्मा के आश्रय में जाना ही वह मूल्य है।

"शाश्वतम्" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि दैवीपद शाश्वत है। अविनाशी है। वह कालातीत है। अतः मूल्यवान मानव जन्म पाकर जन्म को सार्थक बनाने के लिए दैवीपदप्राप्त करने के लिए सभी को प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न - परमात्मा का स्थान कैसा है ?

उत्तर - (१) परमशांति का निलय है (२) शाश्वत है।

प्रश्न - वह किससे मिलता है ?

उत्तर - भगवान के अनुग्रह से मिलता है।

प्रश्न - भगवान का अनुग्रह कैसे मिलता है ?

उत्तर - सभी प्रकार से भगवान की शरण में जाने से मिलता है।

प्रश्न - शांति पाने का उपाय क्या है ? शाश्वत कैवल्य कैसे मिलता है ?

उत्तर - भक्ति आदि के द्वारा सर्वेश्वर का अनुग्रह प्राप्त करना ही शांति एवं कैवल्य पाने का मार्ग है।

६३. इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥

शब्दार्था - इति = इस तरह । गुह्यात् = रहस्यों से । गुह्यतरम् = अत्यंत गोपनीय। ज्ञानम् = ज्ञान। मया = मुझसे। ते = तुम्हें। आख्यातम् = कहा गया। एतत् = इसे। अशेषेण = संपूर्णरूपसे। विमृश्य = विचार कर। यथा = जिस प्रकार। इच्छसि = चाहते हो। तथा = उस प्रकार। कुरु = करो।

भावार्थ – इस प्रकार यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञान को पूर्णतया भलीभाँति विचार कर, जैसे चाहता है, वैसे ही कर।

व्यख्या - "गुह्याद्गुह्यतरम्" - गीताचार्य गीताशास्त्र का बोध करा कर अन्त में कहते हैं कि यह अत्यंत गोपनीय विद्या है। गीता बोध उपनिषदों का सार है। सद्गुरु इसे गोपनीय रखकर सद्गुणी शीलवान शिष्यों को ही इसका बोध कराते हैं। अधिकारी पुरुष होने के कारण भागवान श्रीकृष्णने अर्जुन को इसका बोध करा कर समस्त जगत् का महान् उपकार किया। यह गीता तत्व गोपनीय से भी गोपनीय बताया गया। इससे इसका महत्व प्रकट होता है। अतः विज्ञ लोगों का यह कर्तव्य है कि वे इस अमूल्य संपत्ति का सदुपयोग करें और अपना जीवन धन्य बनालें।

"विमृश्यैतदशेषेण" - महापुरुष स्वयं धर्म का बोध कराते हैं, पर उसके बारे में सोचने, उसकी आलोचना करने का पूर्ण अधिकार दूसरों को देते हैं। वे यह कभी नहीं कहते कि बिना सोचे विचारे उस पर विश्वास करें, आंख मूंद कर उसे अमल में लावें। महान् गुरुओं की यही बडी विशेषता है। गुरु के बताये ज्ञान पर शिष्य सोच विचार कर उसमें से मनचाहे अंश का ग्रहण कर सकते हैं और अमल में लासकते हैं। यह स्वतंत्रता पुराने जमाने के गुरुओंने अपने शिष्यों को दी। भगवान श्रीकृष्णने भी ऐसा ही किया। उन्होंने गीतातत्व का उपदेश देकर के अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन ! मैने गीतातत्व तुम्हें बता दिया है। तुम उस पर विचार करो, उसका परिशीलन करो। उसमें से तुम्हें जो अच्छा लगे उसे स्वीकार कर आचरण में लाओ। मैं यह कभी नहीं कहता कि मैने जो कुछ बताया उसें आंख मूंद कर अमल में लाओ। यह भगवान श्रीकृष्ण की महानता का परिचायक है। इससे गीताबोध की प्रामाणिकता एवं सत्यता प्रकट होती है।

"यथेच्छसि तथाकुरु" - भगवानने कहा कि परिशीलन एवं विचार विनिमय करने के बाद ही अपनी इच्छा के अनुसार करो"। गुरु श्रीकृष्णने

कर्तृत्व को अपने ऊपर नहीं लिया। निष्कामकर्म का यह अनुकरणीय दृष्टांत है। अठारह अध्यायों का ज्ञानबोध लगातार करा कर अन्त में उसके फल की कामना किए बिना भगवान उसे समाप्त करते हैं। उस बोध का लक्ष्य अर्जुन से युद्ध कराना था। पर उस लक्ष्य की कामना किए बिना ही श्रीकृष्णने उसे समाप्त कर दिया। भगवानने विशाल दृष्टि अपनाकर कहा कि हे अर्जुन! मैने अपने कर्तव्य का पालन किया। तुम युद्ध करो या न करो, इससे मेरा कोई सरोकार नहीं है। बाद तुम्हारी इच्छा।'' गुरु कर्तृत्व अपने ऊपर लें तो उन्हें शांति नहीं मिलती। इसलिए वे कभी ऐसा नहीं करते। वे अपने धर्म का निर्वहण करते हैं। फल की कामना नहीं करते। शिष्य अपना उद्धार आप ही करेगा। यह शिष्य का कर्तव्य है।

''ज्ञानमाख्यातम्'' - इससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि गीता में कर्म, भक्ति आदि के बारे में कहा गया, तथापि वे सब ज्ञान के अंतर्गत ही हैं। भगवानने स्वयं उन सब को 'ज्ञानं' कह कर उसमें समाविष्ट कर दिया। अतः सभी मार्ग अंत में ज्ञान में ही समाप्त होते हैं। ज्ञान ही जीवों का परमलक्ष्य है।

प्रश्न - यह गीताज्ञान कैसा है ?

उत्तर - अत्यंत गोपनीय है।

प्रश्न - गुरु के बोध कराने के बाद शिष्य को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - गुरु के बताये विषय पर शिष्य को अच्छी तरह विचार करना चाहिए। परिशीलन के बाद अपने इष्ट अंश को अपना कर उसे कार्यान्वित करना चाहिए।

६४. सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

शब्दार्थ - सर्वगुह्यतमम् = रहस्यों में परम रहस्यमय। परमम् = श्रेष्ठ। मे = मेरे। वचः = वाक् को। भूयः = फिर से। श्रृणु = सुनो। त्वम् = तुम। मे = मुझे। दृढम् =

अतिशय। इष्टः अपि = प्रिय हो। इति ततः = इस कारण। ते =तुम्हें। हितम् = हितकारक वचन। वक्ष्यामि = कहता हूँ।

भावार्थ - सम्पूर्ण गोपनीयों से अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचन को तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा।

व्याख्या - "सर्वगुह्यतमम्" अत्यंत परम गोपनीय कहकर गीतातत्व के महत्व पर भगवानने अत्यधिक प्रकाश डाला। इस शब्द के प्रयोग के द्वारा साधकों का ध्यान अपने ज्ञान बोध की ओर भगवानने आकृष्ट किया।

"भूयः" - भगवानने कहा कि "फिर कहरहा हूँ। सुनो।" शिष्य पर वात्सल्य कर गुरु बार बार विषय समझाते हैं। पिछले श्लोक में "इति ते ज्ञान माख्यातम्" कह कर भगवानने गीता बोध को समाप्त किया। फिर भी शिष्य अर्जुन पर वात्सल्य दिखा कर फिर उपदेश देने को भगवान प्रस्तुत हुए तब ये वाक्य बोले।

"परमंवचः" कहा गया। ये वचन सर्वोत्तम हैं। स्वयं भगवान उन वचनों को उत्कृष्ट कहते हैं, तो समझना चाहिए कि उनका कितना बडा महत्व है।

"इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्" - शिष्यकी प्रज्ञा गुरु की प्रीति का पात्र बनने में है। सेवा सुश्रूषा, नमस्कार, विनम्रता एवं भक्ति श्रद्धा के साथ शिष्य को गुरु के हृदय को मोह लेना चाहिए। तब शिष्य के लिए मुक्ति का मार्ग सुलभ हो जाएगा।

यहाँ अर्जुनरूपी शिष्य श्रीकृष्णरूपी गुरु के प्रीतिपात्र बने। "इष्टोऽसि मे दृढमिति" कह कर स्वयं भगवानने इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया। जब शिष्य का हृदय ज्ञानबोध के लिए अनुकूल बना, तब गुरु श्रीकृष्णने गीता ज्ञान के बीज उसमें बो दिए। ऐसे दृष्टांत इतिहास में कई मिलते हैं। जब शिष्य का

हृदय शुद्ध, निर्मल एवं ज्ञान प्राप्ति के योग्य बन जाएगा, तब सद्गुरु उपदेश देने के लिए स्वयं पहुंच जाते हैं या शिष्य ही गुरु के पास पहुँचता है।

भगवान अर्जुन से कहते हैं कि तुम मेरे प्रिय हो, इसलिए तुम से हित की बात बताता हूँ'' । इससे स्पष्ट होता है कि ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त न हो, या सद्गुरु की कृपा न हो, तो अद्वैतज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

प्रश्न – श्रीकृष्ण अर्जुन को कौन सा बोध कराना चाहते थे ?

उत्तर – अत्यंत गोपनीय तथा स्वोर्त्कृष्ट ज्ञान का बोध कराना चाहते थे।

प्रश्न – श्रीकृष्णने गीता शास्त्र का बोध अजुन को ही क्यों कराया ?

उत्तर – अर्जुन श्रीकृष्ण के अत्यंत प्रीतिपात्र थे। इसलिए श्रीकृष्णने अर्जुन को गीता शास्त्र का बोध कराया।

सम्बन्ध – पूर्व श्लोक में जिस सर्वगुह्यतम बात को कहने की भगवान्‌ने प्रतिज्ञा की, उसे अब कहते हैं -

६५. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।

शब्दार्थ – मन्मनाः = मुझमें मनवाले। मद्भक्तः = मेरे भक्त। मद्याजी = मेरा पूजन करनेवाले। भव = बनो। माम् = मुझे। नमस्कुरु = नमस्कार करो। माम् एव =मुझ ही को। एष्यसि = पा सकते हो ।मे= मुझे। प्रियःअपि = प्रिय हो। ते =तुम्हारे लिए। सत्यम् = सत्य। प्रतिजाने = प्रतिज्ञा करता हूँ।

भावार्थ – हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।

व्याख्या – यह श्लोक और अगला श्लोक दोनों गीताशास्त्र के सार हैं। भगवान

के इन दोनों श्लोकों की महत्ता अत्यधिक है। इन दोनों श्लोकों में पहले 'साधना' के बारे में फिर 'साध्य' के बारे में बताया। यहाँ चार साधनाएँ बतायी गयी। (१) मनको भगवान में लीनकरना (२) भगवान के प्रति भक्ति रखना। (३) भगवान की आराधना करना (४) भगवान को ही नमस्कार करना। इन चार साधनाओं को करनेवाला परमात्मा को अवश्य पासकता है। (माने वैष्यसि) परमात्मा की प्राप्ति ही इस साधना का फल है।

इसलिए लोगों को चाहिए कि वे अपने मन को सांसारिक दृश्य विलासों तथा शब्द आदि से हटा कर आत्मा (भगवान) में स्थित करें। उन्हीं का ध्यान करें। उनकी अर्चना करें। परन्तु अज्ञानीजन ऐसा न करके दृश्यविषयों में लीन होते हुए उनकी सेवा करते हैं। काम आदि राक्षसों को प्रणाम करते हैं। इस श्लोक के द्वारा स्पष्ट होता है कि ऐसे लोग भगवान को कभी पा नहीं सकते। अतः लोगों को चाहिए कि वे सांसारिक विषय परमात्मा में स्थित कर लें। तब वे भगवान को अवश्य पा सकेंगे।

"सत्यं ते प्रतिजाने" - भगवान श्रीकृष्ण यहाँ कहते हैं कि यह सत्य है। मैं प्रतिज्ञा कर कहता हूँ। भगवानने गीता में प्रतिज्ञा करके इस प्रकार कहीं नहीं कहा है।

"मन्मनाभव" - इस वाक्य में कर्म, भक्ति, ध्यान एवं ज्ञान नामक चार साधनाएं बतायी गयीं।

प्रश्न - भगवान की प्राप्ति के उपाय क्या हैं ?

उत्तर - (१) भगवान (आत्मा) में मन को लीन करना (२) भगवान के प्रति भक्ति रखना (३) भगवान की आराधना करना (४) भगवान को नमस्कार करना।

प्रश्न - भगवान किस पर अपनी कृपा करते हैं ?

उत्तर – अपनी आराधना करनेवालों पर कृपा करते हैं।

प्रश्न – भगवान के बारे में प्रयत्न करनेवालों को कौन सा फल मिलेगा ?

उत्तर – वे भगवान को प्राप्त करते हैं। यह वाक्य परम सत्य है। स्वयं भगवानने इसे सत्य माना। प्रतिज्ञा करके भी इसे सत्य कहा।

६६. सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

शब्दार्थ–सर्व धर्मान् = सभी धर्मों को। परित्यज्य =त्याग कर। माम् = मुझे। एकम् = एकमात्र की। शरणं व्रज= शरण में आओ। अहम् = मैं। त्वा = तुम्हें। सर्व पापेभ्यः = सब पापों से। मोक्षयिष्यामि = मुक्त कर दूँगा। माशुचः =शोक मत करो।

भावार्थ – सम्पूर्ण धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

व्याख्या – यह श्लोक बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह चरम श्लोक माना जाता है। शास्त्रों के अनुसार कहा जाता है कि इस श्लोक के प्रथम चरण में शक्ति है। इससे इस श्लोक की महत्ता प्रकट होती है। गीता शास्त्र के तत्व के इस श्लोक में प्रतिपादित भगवान की शरणागति एवं प्रपत्ति साधकों के लिए अत्यंत मुख्य हैं।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य" - नित्य नैमित्तकादि समस्त धर्मों तथा कर्मों से बढ कर भगवान की शरणागति सत्फल देती है। छोटे छोटे धर्म और कर्म पुण्य प्राप्त कराते हैं। परन्तु भगवान की शरणागति मोक्ष प्राप्त कराती है।उन उन धर्मों तथा कर्मों का फल शरणागति से प्राप्त होनेवाले फल में निहित है। इसलिए भगवानने "मामेकम" कहा है। उन्होंने कहा कि अकेले मेरा आश्रय लेने से

सब कुछ मिल जाएगा। पेड की जड को जल से सींचे, तो शाखाओं को जल मिल जाएगा। इसी प्रकार अकेले भगवान की शरण में भक्त जाय, तो परब्रह्म ही मिल जाएगाा। इसीलिए अपनी शरण में आने का आदेश भगवानने दिया।

"अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि" - कुछ लोग पूछ सकते हैं कि सब कुछ छोड कर भगवान की शरण में जाएंगे, तो वे क्या देंगे ? उसका उत्तर भगवानने दिया कि "इस प्रकार जो मेरी शरण में आएगा, उसे समस्त पापों तथा बन्धनों से मुक्त कर दूंगा।" इससे बढ कर साधकों को और क्या चाहिए ? परन्तु यहाँ एक बात है। भगवान सभी को मोक्ष प्रदान नहीं करेंगे। जो विषय वासनाओं से मुक्त होकर आत्मा (भगवान) में स्थित होगा, भगवान के ध्यान, स्मरण एवं पूजन में जो लीन होगा, जो भगवान की शरण में जाएगा उसीको वे मोक्ष प्रदान करेंगे। यह बात भगवानने स्पष्ट बता दी। इससे स्पष्ट होता है कि जीव अपने धर्म का पालन करें, तो भगवान अपने कर्तव्य का पालन करेंगे। इस श्लोक का प्रथम चरण जीव के कर्तव्य का बोध कराता है। द्वितीय चरण भगवान के द्वारा दिये जानेवाले फल को सूचित करता है। यह स्पष्ट बता दिया गया कि जो जैसा आचरण करेंगे, वे वैसा फल पाएंगे। भगवान किसी के साथ पक्षपात नहीं करते।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य" - इस वाक्य का और एक अर्थ भी है। "दृश्य सम्बन्धी सब भाव त्याग कर दृग्वस्तु आत्माकी शरण लो" यह अर्थ भी बताया जा सकता है। यह और भी श्रेष्ठ अर्थ है। यह अर्थ इस बात का समर्थन करता है कि त्याग से ही मोक्ष संभव है। शैतान पकड ले तो सर्वेश्वर नहीं मिलेंगे। सर्वेश्वर को पाना चाहें तो शैतान को छोडना पडेगा। अर्थात् क्षेत्र से सम्बन्धित भावों को त्याग कर क्षेत्रज्ञरूपी परमात्मा की शरण लेनी चाहिए।

इस श्लोक में समस्त धर्मों को छोडने की बात कही गयी। इसका मतलब अधर्म करना नहीं है। वास्तव में छोटे छोटे धर्म सब महान् धर्म में

विलीन होजाते हैं। उस महद्धर्म की शरण में जाने पर छोटे धर्मों के पीछे पडने की जरूरत नहीं रहती। इसलिए शब्दों का अर्थ सही लेना चाहिए और अन्वय ठीक तरह से कर लेना चाहिए।

"माशुचः" - भगवान श्रीकृष्णने अर्जुन को आदेश दिया कि यह सत्य जान कर भगवान की शरण लेकर बिल्कुल शोक मत करो।" दुःख रहित शाश्वत आत्मपद जब मिलेगा, तब शोकके लिए स्थान ही नहीं रहेगा। इसीलिए भगवानने स्पष्ट बता दिया कि मेरी शरण में आने के बाद तुम्हें दुःख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए भगवानने कहा कि शोक मत करो, (माशुचः)।

शोक राहित्य सम्बन्धी इस बोध (अशोच्या नव्य शोचस्त्वम्) के द्वारा गीता का आरंभ हुआ, "माशुचः" वाले शोक राहित्य सम्बन्धी वाक्य से गीता शास्त्र का लक्ष्य शोकराहित्य है। आनन्द की प्राप्ति, सांसारिक दुःखों का शमन और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति, ये गीता के लक्ष्य हैं। जीवों के द्वारा इन लक्ष्यों की प्राप्ति कराना गीता का आशय है।

इस श्लोक में भलीभांति बतया गयाकि भक्ति, प्रपत्ति एवं शरणागति ही मुक्ति के मुख्य साधन हैं। ऐसी हालत में बडे बडे शास्त्र ग्रन्थों का अध्ययन जो कर नहीं सकते, विद्वत्ता से जो भूषित नहीं है, जो पढे लिखे नहीं हैं, उन्हें मोक्ष की प्राप्ति के लिए निराश या उदास होने की जरूरत नहीं है। कोई भी जीव निर्मल भक्ति से युक्त रहे, तो काफी है

चूंकि यह मुख्य श्लोक है, अतः मुमुक्षुओं को इसे कंठस्त कर लेना चाहिए और सदा इस श्लोक और उसके अर्थका स्मरण, मनन एवं चिंतन करते रहना चाहिए।

प्रश्न - जीवों को पापों, बन्धनों तथा दुःखों से निवृत्ति कैसे मिलेगी ?

उत्तर - समस्त धर्मों, कर्मों तथा समस्त दृश्य भावों को त्याग कर अकेले

भगवान (आत्मा) की शरण में जावें, तो वे ही जीव को मोक्ष प्रदान करेंगे।

प्रश्न –शोक राहित्य का मार्ग क्या है ?

उत्तर - भगवान की शरणागति एवं भगवान का आश्रय ही शोक राहित्य का मार्ग है।

सम्बन्ध - इस प्रकार भगवान् गीता के उपदेश का उपसंहार करके अब उस उपदेश के अध्यापन और अध्ययन आदि का माहात्म्य बतलानेके लिये पहले अनधिकारी के लक्षण बतला कर उसे गीता का उपदेश सुनाने का निषेध करते हैं -

६७. इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।

शब्दार्थ - ते = तुम्हें। (अभिहितम् = बताये गये)। इदम् = यह गीता शास्त्र। कदाचन = कभी भी। अतपस्काय = तप रहित से। न वाच्यम् = न कहना चाहिए। अभक्ताय = भक्ति रहित से। न (वाच्यम्) = न कहना चाहिए। अशुश्रूषवे च = सुनने की इच्छा न रखनेवाले से। न (वाच्यम्) = न कहना चाहिए। यः = जो। माम् =मेरे बारे में। अभ्यसूयति = दूषण करता है। (तस्मै) च =उससे भी। न (वाच्यति) = नहीं कहना चाहिए।

भावार्थ - तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी काल में न तो तपरहित मनुष्य से कहना चाहिये, न भक्तिरहित से और न बिना सुननेकी इच्छावाले से ही कहना चाहिये; तथा जो मुझमें दोषकदृष्टि रखता है, उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिए।

व्याख्या - इस श्लोक में बताया गया कि गीता शास्त्र का बोध किस किस को

नहीं कराना चाहिए। इसका एक कारण है। किसी भी मूल्यवान वस्तु को अपात्र एवं अयोग्य के हाथों सौंप दें, तो वह व्यर्थ हो जाएगी। जिनके हृदय में अहंकार एवं घमंड का बोलबोला रहेगा, उनको गीता शास्त्र सुनावें तो उनकी समझ में कुछ नहीं आएगा। सारा श्रम व्यर्थ हो जाएगा। मैले कपडे में रंग नहीं चढता। अतः श्रद्धालु भक्तों को ही इसे बताना श्रेयोदायक है। यहाँ तपस्या का मतलब है, पापों तथा मालिन्य को तपा देना। सुश्रूषा का मतलब है गुरु सेवा, बडों की सेवा तथा भगवान की सेवा। "कदाचन" कहने से स्पष्ट होता है कि सुगुणरहित व्यक्तियों को गीताशास्त्र का बोध नहीं कराना चाहिए। मलतब यह कि अपात्र, अयोग्य, दैवविद्वेषी तथा नास्तिकों को आध्यात्मिक विद्या प्रदान करें, तो वह निरर्थक होगी। इसलिए योग्य लोगों को ही गीता का बोध कराना चाहिए।

प्रश्न – गीता शास्त्र का उपदेश किनको नहीं देना चाहिए ?

उत्तर - (१) तपस्या न करनेवालों को (२) भक्ति रहित व्यक्तियों को (३) सुश्रूषा न करनेवालों को (४) भगवान की निन्दा करनेवालों को गीता का बोध नहीं कराना चाहिए।

प्रश्न – गीता का बोध किन को कराना चाहिए ?

उत्तर – (१) तपस्या करनेवालों को (२) भक्तलोगों को (३) सुश्रूषा करनेवालों को (४) भगवान की निन्दा न करनेवालों को गीता का बोध कराना चाहिए।

सम्बन्ध – इस प्रकार गीता के उपदेश के अनधिकारी के लक्षण बतला कर अब भगवान् दो श्लोकों द्वारा अपने भक्तों में इस उपदेश के वर्णन का फल और माहात्म्य बतलाते हैं -

६८. य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

शब्दार्थ - यः = जो। परमं गुह्यम् =अति रहस्यमय। इमम् = इस गीताशास्त्र को। मद्भक्तेषु = मेरे भक्तों को। अभिधास्यति =बताएगा। (सः = वह)। मयि = मुझमें। पराम् = श्रेष्ठ। भक्तिम् = भक्ति। कृत्वा =कर। असंशयः = निस्संदेह। माम् एव = मुझ ही को। एष्यति = पासकता है।

भावार्थ - जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्र को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा - इसमें कोई सन्देह नहीं है।

व्याख्या - गीता प्रचार से प्राप्त होनेवाले सत्फल के बारे में गीताचार्यने यहां बताया। यह भी बताया कि गीता प्रचार उन्हें बहुत प्रिय है। यहाँ स्पष्ट कर दिया गया कि गीता बोध का फल मोक्ष की प्राप्ति है। इससे ज्ञात होता है कि गीता शास्त्र का बोध करानेवाले पराभक्ति से युक्त हैं। सभी दानों में ज्ञानदान उत्तम माना जाता है। अतः दूसरों को दिया जानेवाला गीता का ज्ञान दान पराभक्ति का प्रतीक है। अतः सभी लोगों का यह कर्तव्य है कि वे अर्थ समझ कर गीता शास्त्र का पारायण करें और दूसरों को उसका बोध करावें, लोक कल्याण करें।

प्रश्न - गीताशास्त्र कैसा है ?

उत्तर - गोपनीय है।

प्रश्न - किसे इसका बोध कराना है ?

उत्तर - भगवान के भक्तों को इसका बोध कराना है।

प्रश्न - उन्हें कौन सा फल मिलेगा ?

उत्तर - वे पराभक्ति से युक्त होंगे। संशयरहित होकर भगवान को प्राप्त होंगे। इस बारे में सन्देह करने की जरूरत नहीं है।

प्रश्न - 'इमम्' पद किसका वाचक है ?

उत्तर - (१-३१) अतः वर्ण और जाति आदिके।

६९. न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

शब्दार्थ – मनुष्येषु =मनुयों में। तस्मात् = उससे बढ कर। मे = मेरा। प्रियकृत्तमः= प्रिय। कश्चित = एक भी। न च =नहीं है। तस्मात् = उससे बढ कर। मे= मेरा। प्रियतरः = प्रिय तर।अन्यः = दूसरा। भुवि =भूलोक में। भविता न च = होगा नहीं।

भावार्थ – उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्यों में कोई भी नहीं है। तथा पृथ्वी भर में उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्य में होगा भी नहीं।

व्याख्या – पिछले श्लोक और इस श्लोक से स्पष्ट होता है कि भगवान आध्यात्मिक विद्या एवं गीता तत्व के प्रचार के प्रति कितनी दिलचस्पी रखते हैं। भगवान श्रींकृष्णने कहा कि भक्तों में गीता तत्व व्याप्त करनेवालों से बढकर प्रिय व्यक्ति मेरे लिए दूसरा कोई नहीं है। "प्रियकृत्तमः" कहा गया। 'तम' प्रत्यय के प्रयोग से ज्ञात होता है कि गीतातत्व का बोध करानेवाला भगवान को अत्यंत प्रीतिपात्र है। भगवानने कहा कि भूत, भविष्य एवं वर्तमान में ऐसा प्रिय व्यक्ति मेरे लिए दूसरा कोई नहीं। जीवन में भगवान के प्रीतिं पात्र बनने से बढ कर सौभाग्य का विषय भक्त के लिए दूसरा क्या है ? ऐसे भक्त का जीवन धन्य है।अतः हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह गीतातत्व को अच्छी तरह समझ ले, उसे आचरण में ले आवे और दूसरों को भी भलीभांति बतावे। अपने साथ दूसरों को भी भव के बन्धनों से मुक्त करावे।

गीता की महिमा के बारे में भगवान श्रीकृष्णने यहाँ स्पष्ट बता दिया। अतः साधकों को चाहिए कि वे अपने मुहल्ले, गांव तथा शहर में गीता संघ की स्थापना करें और गीता तत्व का खूब प्रचार करके भगवान की प्रीति के पात्र बनें।

प्रश्न – इस संसार में भगवान का अत्यंत प्रिय कौन है ?

उत्तर – भक्तों में गीतातत्व का जो प्रचार करता है, वह भगवान का अत्यंत प्रिय है।

प्रश्न – क्या उससे बढकर भगवान का प्रिय व्यक्ति दूसरा कोई है ?

उत्तर – भूत, भविष्य एवं वर्तमान में ऐसा कोई भी दूसरा नहीं है।

सम्बन्ध – इस प्रकार उपर्युक्त दो श्लोकों में गीताशास्त्र का श्रद्धा-भक्ति पूर्वक भगवद्भक्तों में विस्तार करने का फल और माहात्म्य बतलाया, किन्तु सभी मनुष्य इस कार्य को नहीं कर सकते। इसका अधिकारी तो कोई विरला ही होता है। इसलिये अब गीताशास्त्र के अध्ययन का माहात्म्य बतलाते हैं –

७०. अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

शब्दार्थ – यः च = जो। धर्मम् =धर्मयुक्त। आवयोः =हम दोनों के। इमं संवादम् = इस संभाषण का। अध्येष्यते = अध्ययन करेगा। तेन = उससे। ज्ञानयज्ञेन = ज्ञान यज्ञ से। अहम् =मैं। इष्टः = पूजित। स्यामइति = होऊँगा। मे = मेरा। मतिः = मत है।

भावार्थ – जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों के संवादरूप गीताशास्त्र को पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा - ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या – "धर्म्यम्" कहा गया। इससे स्पष्ट होता है कि यह गीताशास्त्र धर्ममार्ग से कभी हटनेवाला नहीं है। धर्म का प्रत्यक्ष स्वरूप है। "धर्मक्षेत्रे" शब्द के साथ गीता का आरंभ हुआ। यह विशेष ध्यान देने की बात है।

"ज्ञानयज्ञेन" - यहाँ बताया गया कि जो गीता का अध्ययन करता है, वह ज्ञानयज्ञन के द्वारा भगवान की पूजा करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि गीता का पारायण सत्फल प्रदान कर सकता है। यह कार्य बडी भक्ति के साथ

करना चाहिए। अर्थ भी जानकर गीता का पारायण किया जाय, तो बडा हित होगा। गीताचार्यने कहा कि जो गीता का अध्ययन करेगा, वह ज्ञानयज्ञ के द्वारा मेरी आराधना करता है। इससे स्पष्ट होता है कि गीता का परमतत्व ज्ञान ही है। कर्म, भक्ति तथा ध्यान आदि सब उस ज्ञान में ही अंतर्लीन होते हैं। वे ज्ञान के उदय में सहायक हैं। इसलिए गीता के अध्ययन के द्वारा ज्ञानयज्ञ का अनुष्ठान कर भगवत्तत्व को अपनाना चाहिए। फल एवं पुष्प आदि से भगवान की पूजा करना सामान्यपूजा है। ज्ञानयज्ञ के द्वारा भगवान की पूजा करना परापूजा है। पहली से दूसरी सर्वोन्नत है।

"मे मतिः" - "यह मेरा निश्चय है" भगवान का यह कथन प्रामाणिक है। क्योंकि भगवानने स्पष्ट कह दिया कि यह मेरा स्थिर निश्चय है।

प्रश्न - जो गीताशास्त्र का अध्ययन करेगा, वह किस यज्ञ को करनेवाला होगा?

उत्तर - ज्ञानयज्ञ को करनेवाला होगा।

७१. श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥

शब्दार्थ-य नरः = जो नर। श्रद्धावान = श्रद्धालु। अनसूयः च = असूया रहित। श्रृणुयात् अपि = श्रवण करने पर भी। सः अपि = वह भी। मुक्तः = पाप से मुक्त हो कर। पुण्य कर्माणाम् = पुण्य कार्य करनेवालों के। शुभान् लोकान् = श्रेष्ठ लोकों को। प्राप्नुयात् = पाता है।

भावार्थ - जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टि से रहित होकर इस गीताशास्त्र का श्रवण भी करेगा, वह भी पापों से मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होगा।

व्याख्या - श्रद्धा तथा असूया राहित्य के बारे में गीता में कई बार बताया गया।

गीता की समाप्ति के संदर्भ में भगवानने फिर से उसी बात पर ध्यान दिया। इससे ज्ञात होता है कि मुमुक्षुओं के लिए सद्गुण बहुत आवश्यक हैं। श्रद्धा के बिना काम करें, तो वह काम निष्फल होगा। असूया ग्रसित लोग किसी भी क्षेत्र में तरक्की नहीं कर सकते। असूया खतरनाक विषैला अंश है। वह हृदय में प्रवेश करे, तो सभी सद्गुण नष्ट हो जाएंगे। अतः उन दुर्गुणों को पास पटकने देना नहीं चाहिए।

यहाँ बताया गया कि श्रद्धा एवं असूया रहित लोग गीता को सुन कर पाप रहित बन सकेंगे। भगवान के ये वाक्य अनपढ भक्त लोगों के लिए बडे सहायक हैं। आध्यात्मिक तत्व हृदय से सम्बन्ध रखता है, न कि दिमाग से। भगवान का वासस्थान मुख्य रूप से मनुष्य का हृदय है। बडे विद्वान लोग भी यदि श्रद्धा के बिना, ईर्ष्या द्वेष से ग्रसित हों तो उनसे प्रयोजन कुछ नहीं होगा। इसीलिए भगवानने बताया कि अनपढ लोग भी सद्गुणी हों और दूसरों से गीता आदि सुनें तो पुण्य अर्जित करेंगे। श्रद्धा के साथ यदि विद्या से भी लोग संपन्न हों, तो अच्छा है।

प्रश्न - अनपढ मनुष्य गीता पढ नहीं सकता, तो फिर वह कैसे तर सकेगा ?

उत्तर - (१) श्रद्धा के साथ (२) असूया के बिना किसी से गीता शास्त्र का श्रवण करे, तो पापरहित होकर उत्तम लोक प्राप्त करेगा।

सम्बन्ध - इस प्रकार गीताशास्त्र के कथन, पठन और श्रवण का माहात्म्य बतला कर अब भगवान् स्वयं सब कुछ जानते हुए भी अर्जुन को सचेत करने के लिये उससे उसकी स्थिति पूछते हैं -

७२. कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥

शब्दार्थ - पार्थ = हे अर्जुन। एतत् = यह। त्वया =तुमसे। एकाग्रेण चेतसा =

एकाग्र मन से। श्रृतं कश्चित् = श्रवण किया। धनंजय = हे अर्जुन। ते = तुम्हारे। अज्ञानसम्मोहः = अज्ञान से जनित मोह। प्रनष्टः कच्चित् = नष्ट हो गया ?

भावार्थ – हे पार्थ ! क्या इस (गीताशास्त्र) को तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया? हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?

व्याख्या – भगवान श्रीकृष्ण जो कुछ बताना चाहते थे सब बता दिया। अन्त में अर्जुन से पूछा कि हे अर्जुन ! मेरे ये वाक्य क्क्या तुमने एकाग्रचित्त होकर सुना? क्या तुम्हारा भ्रम नष्ट हुआ ? रोगी को दवा मिलने के बाद उससे वैद्य पूछते हैं कि क्या तुम्हारा रोग शमित हुआ ? ऐसा पूछना वैद्य का कर्तव्य है। भवरोग के चिकित्सक भगवान श्रीकृष्णने यही किया।

"एकाग्रेण चेतसा" - ध्यान, श्रवण एवं मनन करते समय चित्त को एकाग्र रहना चाहिए। चंचलचित्त से कोई काम नहीं हो सकता। जिस प्रकार कल्लोलित जल में सूर्य बिंब निश्चल नहीं दीखता, जिस प्रकार चंचल दर्पण में मुख ठीक तरह से नहीं दीखता, उसी तरह चंचल चित्त में आत्मा ठीक तरह से प्रतिबिंबित नहीं होता। भगवान श्रीकृष्ण जब गीता का बोध कराने लगा, तब वातावरण युद्ध का था। ऐसे वातावरण में भगवान श्रीकृष्णने गीता का उपदेश दिया। अर्जुन एकाग्र मन से नहीं सुनें तो भगवान का श्रम व्यर्थ होगा। इसलिए भगवानने अर्जुन से ऐसे प्रश्न किए। ध्यान, स्मरण, पूजन एवं मनन करते समय हर जीव को एकाग्र रहना चाहिए। यही भगवान का अंतिम सन्देश है। भगवान श्रीकृष्णने गीताशास्त्र के अंत में स्पष्ट बता दिया कि मन को एकाग्र रखो। श्रवण आदि करो। अज्ञान को समूल नष्ट करो।"

"अज्ञान सम्मोहः" - मोह का कारण अज्ञान है। अज्ञान के कारण मनुष्य रज्जु को देख कर सांप समझ कर भ्रम में पड जाता है। इसी प्रकार अज्ञान के कारण अनित्यवस्तु को नित्य समझ कर मनुष्य उसके मोह में पड जाता है।

अज्ञान के कारण अर्जुन का मोह श्रीकृष्ण के गीता सन्देश से नष्ट हो गया। भगवान अर्जुन से पूछते हैं कि नष्ट हुआ कि नहीं ?

"पुनष्टः" दवा तेज और शक्तिवान हो, तो रोग जल्दी शमित होगा। श्रीकृष्ण के ज्ञान रूपी औषध से अर्जुन का मोहरूपी भवरोग नष्ट हो गया। भगवानने यही बात जानने के लिए 'नष्टः' न कह कर "विनष्टः" कह कर प्रश्न किया।

प्रश्न - श्रवण कैसे करना चाहिए ?

उत्तर - एकाग्रमन से श्रवण करना चाहिए।

अर्जुन उवाच

७३. नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

शब्दार्थ - अर्जुन उवाच = अर्जुन बोले। अच्युत = हे कृष्ण। त्वत्प्रसादात् = आपकी कृपा से। मोहः = मेरा मोह। नष्टः = नष्ट हो गया। मया =मुझसे। स्मृतिः = ज्ञान। लब्धा = पाया गया। गत संदेहः = संदेहरहित होकर। स्थितः अस्मि = स्थित हूँ। तव =आपके। वचनम् =वचन का। करिष्ये = पालन करूंगा।

भावार्थ - अर्जुन बोले- हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ। अतः आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

व्याख्या - भगवान श्रीकृष्ण के प्रश्न का उत्तर अर्जुनने दिया। उन्होने कह दिया कि मेरा अज्ञान नष्ट हो गया। यहाँ वैद्य बहुत बडे हैं और दवा भी महान् है। गीतामृत का पान करने से अर्जुन का मोह दूर हो गया। "नष्टोमोहः" कहकर अर्जुन ने स्वयं अपनी बात स्पष्ट कर दी। इससे गीताचार्य एवं गीताशास्त्र दोनों

की महत्ता का परिचय मिलता है। आध्यात्मिक ज्ञान केवल बातों से समझ में नहीं आता। उसे आचरण में लाकर देख लेना चाहिए कि हृदयंगम हुआ कि नहीं! अर्जुनने श्रीकृष्ण के सन्देश को हृदयंगम करके देख लिया। फिर साबित कर दिया कि सिद्धांत सही है। वही सत्य अर्जुनने प्रकट किया। अर्जुन ने कह दिया कि मेरी भूख मिट गयी। प्यास बुझ गयी। मैं संतृप्त हुआ।'' अतः लोगों को गीताशास्त्र के फल के बारे में संशय नहीं करना चाहिए। इसके लिए अर्जुन का दृष्टांत काफी है। भूली हुयी बात का स्मरण करना ही स्मृति है। अर्जुन अपने वास्तविक रूप को याने आत्मा को भूल गए। भगवान के उपदेशों से वास्तविक रूप को समझ सके। उन्हें ज्ञात हुआ कि मैं देह नहीं हूँ। सच्चिदानन्द आत्मा हूँ। 'स्मृतिः' कहने से स्पष्ट होता है कि आत्मस्वरूप सनातन हैं। परन्तु मनुष्य उसे भूलता है। उसे फिर से याद करना पडता है। अविद्या दूर हो तो भूला हुआ आत्मतत्व याद आता है। वही स्मृति है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मतत्व हर जीव जानता है। परन्तु अविद्या के कारण भूल जाता है। गुरु एवं ज्ञानी के उपदेश से फिर उस आत्मतत्व का स्मरण कर सचेत हो जाता है। ''त्वत्प्रसादात्'' - सद्गुरुओं का अनुग्रह आध्यात्मिक क्षेत्र में महत्व रखता है। शिष्य जितना भी प्रयत्न करे, पर गुरु या ज्ञानी के अनुग्रह के बिना वह माया को पार नहीं कर सकता। इसीलिए भगवान का ध्यान, पूजन, स्मरण, मनन आदि मुमुक्षुओं के लिए आवश्यक बताये गए। महात्माओं का अनुग्रह भी अत्यंत आवश्यक है। इसीलिए हमारे पूर्वज गुरुओं की शरण लेकर उनके उपदेश पाकर परमात्मा के ध्यान में लीन हुए और कृतकृत्यहो गए। अर्जुनने स्पष्ट कर दिया कि गुरु श्रीकृष्ण के उपदेश एवं अनुग्रह से मेरा अज्ञान दूर हुआ।

''अच्युत'' चूंकि अपने भक्तों को संसारच्युत होने से बचानेवाले हैं, अतः भगवान अच्युत हो जाते हैं। यह शब्द यहाँ बहुत ही अनुकूल है। अर्जुन को संसारच्युत होने से बचा कर भगवान ने अपना अच्युत नाम सार्थक बना लिया।

अज्ञान के समय सन्देह की परंपरा चल पडती है। परन्तु आत्मतत्त्व जब ज्ञात होता है, तब सन्देह दूर हो जाते हैं।

"करिष्ये वचनं तव" - जो आत्मज्ञान पाता है, वह देह सम्बन्धी भ्रांति से मुक्त होता है। अपने कर्तव्य का पालन करता है। इसीलिए अर्जुन का अज्ञान जब शमित हुआ तब कहा कि आपके कहे अनुसार करूँगा।" फिर कर्तव्य पालन में लग गए। संसार में एक शिष्टाचार है। शिष्य जितना भी श्रेष्ठ हो, गुरु भक्ति को छोडना नहीं चाहिए। गुरु की आज्ञा का पालन उसे करना चाहिए। इसी तरह अर्जुनने अज्ञान के नष्ट होने के बाद भी गुरु की आज्ञा का पालन किया। गुरुभक्ति का यह अत्यंत प्रबल उदाहरण है। अर्जुन को आदर्श के रूप में लेना हर मुमुक्षु का कर्तव्य है।

प्रश्न - श्रीकृष्ण के उपदेश से अर्जुनने कौन सा सत्फल पाया ?

उत्तर - उनका (१) अज्ञान दूर हुआ (२) आत्मा की स्मृति जगी (३) सन्देहों का अन्त हुआ (४) कर्तव्योन्मुख हुआ।

प्रश्न - जीव का अज्ञान कैसे दूर होगा ?

उत्तर - ज्ञानवान गुरुदेवों के अनुग्रह तथा उनके उपदेशों से जीव का अज्ञान दूर होगा।

सञ्जय उवाच

७४. इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥

शब्दार्थ - सञ्जय उवाच = सञ्जय बोले। इति = इस प्रकार। अहम् = मैं। वासुदेवस्य = श्री कृष्ण के। महात्मनः = महात्मा। पार्थस्य च = अर्जुन के। (इमम= इस)। अद्भुतम् = अद्भुत। रोमहर्षणम् = रोमाञ्चकारक। संवादम् = संभाषण। अश्रौषम = सुना।

भावार्थ – सञ्जय बोले – इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेव के और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवाद को सुना।

व्याख्या – श्रीकृष्ण के गीताशास्त्र को महर्षि व्यासजी के अनुग्रह से सञ्जय सुन सका। महदानन्द का अनुभव किया। धृतराष्ट्र को वह विवरण बताने लगा।

"पार्थस्य च महात्मनः" – तब तक जो अर्जुन मोहजाल में फंस कर अल्पात्मा बन गए थे, वे भगवान के दिव्य ज्ञान बोध से महात्मा के रूप में बदल गए। अर्जुन की तरह हर जीव को गीताशास्त्र का श्रवण कर भव बन्धनों से मुक्त होना चाहिए।

'साक्षात्' – सञ्जयने बताया कि श्री व्यासजी के अनुग्रह से गीताशास्त्र को प्रत्यक्ष सुन सका। श्री व्यासजीने सञ्जय को दूर से सुनने एवं दूर से देखने की शक्ति प्रदान की। इसलिए घर में बैठे बैठे सञ्जय रणक्षेत्र का सारा विवरण सुन सका और देख सका। इसलिए धृतराष्ट्र को सञ्जय सब कुछ बता सका। इसलिए वह प्रामाणिक बन गया। सञ्जयने धृतराष्ट्र को गीताशास्त्र का जो विवरण बताया, वह स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के मुख से निसृत है। अतः गीता ग्रन्थ पर सब को विश्वास करना चाहिए।

"स्वयम्" – चूंकि भगवानने गीता तत्व स्वयम् बताया, अतः यह गीता शास्त्र अमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण बन गया।

प्रश्न – गीता रूपी यह योग शास्त्र कैसा है ?

उत्तर – (१) अत्यंत गोपनीय है (२) परमोत्कृष्ट हैं (३) भगवान के द्वारा प्रबोधित है।

प्रश्न – यह गीताशास्त्र सञ्जय कैसे सुन सका ?

उत्तर – श्री व्यासमहर्षि के अनुग्रह से (दूरश्रवण एवं दूरदर्शन की शक्ति की प्राप्ति से) सुन सका।

७५. व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेस्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।

शब्दार्थ - व्यासप्रसादात् = श्री वेदव्यास महर्षि के अनुग्रह से। अहम् = मैं। गुह्यम् = रहस्यमय। परम् = श्रेष्ठ। एतत् योगम् = इस योग शास्त्र को। स्वयम् = स्वयं। कथयतः = अर्जुन को बतारहे। योगेश्वरात् = योगेश्वर। कृष्णात् = श्रीकृष्ण से। साक्षात् = प्रत्यक्ष। श्रतवान् = सुना है।

भावार्थ - श्रीव्यासजी की कृपा से दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योग को अर्जुन के प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से प्रत्यक्ष सुना है।

व्याख्या - इस गीताशास्त्र के बारे में योगम् कहा गया। योग माने मिलानेवाला है। जीव को परमात्मा से मिलानेवाला योग है। गीतोपदेश ऐसा ही है, इसीलिए यह योग कहा गया। यह परम गोपनीय है। सर्वोत्कृष्ट है। इसलिए मुमुक्षुओं के लिए यह उपादेय है।

"योगेश्वरात्" - योग के प्रभु योगेश्वर हैं। योग के पूर्णज्ञाता श्रीकृष्ण भगवान हैं। इसलिए लोगों को भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा प्रतिपादित इस गीता शास्त्र पर अपार विश्वास करना चाहिए तथा माया मोह से मुक्त होना चाहिए। "माहात्मा" एक उपाधिं है। प्रयत्न करके उसे हर कोई प्राप्त कर सकता है। गीता शास्त्र का लक्ष्य अज्ञानी को ज्ञानी बनाना तथा अल्पात्मा को महात्मा बनाना है।

श्रीकृष्णार्जुन संवादरूपी यह गीताशास्त्र अत्यंत आश्चर्यजनक है। यह शास्त्र माया से मोहित व्यक्ति को माया से विमुक्त कर देता है। रोनेवालों को हंसाता है। इसी कारण सञ्जयने इसे अद्भुत कहा। रोमहर्षक भी कहा। इसीलिए गीताशास्त्र विश्व विख्यात हो गया। सभी जनों के द्वारा आदरणीय बन गया। मुमुक्षुओं के लिए कल्पतरु बन गया।

प्रश्न – श्रीकृष्णार्जुन संवाद कैसा है ?

उत्तर – (१) अद्भुत है (२) रोमहर्षक है।

सम्बन्ध – इस प्रकार अतिदुर्लभ गीताशास्त्र के सुनने का महत्त्व प्रकट करके अब सञ्जय अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए उस उपदेश की स्मृति का महत्त्व प्रकट करते हैं १

७६. राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥

शब्दार्थ – राजन् = हे धृतराष्ट्र महाराज। अद्भुतम् = अद्भुत। पुण्यम् = पावन। केशवार्जुनयोः = कृष्णार्जुन के इदम् संवादम् = इस संभाषण को। संस्मृत्य संस्मृत्य = स्मरण कर कर। मुहुर्मुहुः च = बार बार। हृष्यामि = हर्षित होता हूँ।

भावार्थ – हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

व्याख्या – सञ्जय गीता के स्मरण से प्राप्त आनन्द का वर्णन इस श्लोक में करता है। 'संस्मृत्य संस्मृत्य' कहने में विशेषता है। सुन हुयी बात का बार बार स्मरण करना महत्त्व रखता है। सञ्जयने ऐसा ही किया। शास्त्र में (१) श्रवण (२) मनन (३) निदिध्यासन नामक तीन पद्धतियाँ बतायी गयीं। सञ्जयने इन विधियों को आचरण में लाकर परमानन्द प्राप्त किया।

'पुण्यम्' कहने से स्पष्ट होता है कि कृष्णार्जुन संवाद रूप यह गीता शास्त्र पुण्यप्रद एवं अतिपावन है। मोक्ष प्राप्त करानेवाला पवित्र वस्तु है। इसीलिए पुण्यम् कहा गया।

"हृष्यामि च पुनः पुनः" - स्वस्वरूप के साक्षात्कार या भगवान से तादात्म्य प्राप्त करते समय जीव दुःख राहित्य एवं परमानन्द का अनुभव करता है। यह आनन्द गीता शास्त्र से जीव को प्राप्त करता है। अर्जुन ही इसके लिए दृष्टांत हैं। मोहजाल में फंसे अर्जुन गीता शास्त्र का श्रवण कर उसके ज्ञान प्रकाश से इतने प्रभावित हुए कि आनन्दित होकर कर्तव्य निर्वहण के लिए रण क्षेत्र में कूद पडे। इस प्रकार गीता के श्रवण से सञ्जय और अर्जुन दोनों परमानन्द पा सके। दुःखित व्यक्तियों के लिए गीता शास्त्र संजीवनी जैसा है।

प्रश्न - श्रीकृष्णार्जुन संवाद रूपी गीताशास्त्र कैसा है ?

उत्तर - (१) पुण्यप्रद है। अतिपावन है (२) अद्भुत है। आश्चर्यजनक है।

प्रश्न - गीताशास्त्र सुनने के बाद क्या करना चाहिए ?

उत्तर - उसे सुन कर उसके अर्थ का बार बार मनन करना चाहिए। निदिध्यासन करना चाहिए।

प्रश्न - इससे क्या फल मिलेगा ?

उत्तर - जीव दुःखरहित होगा। अतिहर्ष एवं आत्मानन्द पाएगा। संतोषसागर में तैरेगा। सञ्जय ही इसके लिए दृष्टांत हैं।

७७. तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।।

शब्दार्थ - राजन = हे धृतराष्ट्र महाराज। हरेः = श्रीकृष्ण के। अत्यद्भुतम् = बहुत अद्भुत। तत् रूपम् = उस विश्वरूप का। संस्मृत्य संस्मृत्य = स्मरण कर कर। मे = मुझे। महान् = बहुत। विस्मयः = आश्चर्य। (भवति = होरहा है।) पुनः पुनः च = बार बार। हृष्यामि = हर्षित होरहा हूँ।

भावार्थ - हे राजन् ! श्रीहरि के उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्त में महान् आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

व्याख्या - पिछले श्लोक में भगवान के सन्देश से प्राप्त होनेवाले आनन्द के बारे में बताया गया। इस श्लोक में भगवान के विश्वरूप से प्राप्त होनेवाली दिव्य अनुभूति का वर्णन किया गया।

"हृष्यामि च पुनः पुनः" - सञ्जय भगवान श्रीकृष्ण के रूप एवं सन्देश का विचार कर प्रसन्न होता है। उसके आश्चर्य की भी सीमा नहीं है। हर जीव को इस आनन्ददशा की प्राप्ति करनी चाहिए। नश्वर संसार को भूलकर शाश्वत भगवान के स्वरूप का चिन्तन कर कुछ लोग खुशी से नाचने लगते हैं। कुछ लोग गाने लगते हैं। ये सब अतिहर्ष के चिह्न हैं। सञ्जय को गीता श्रवण के बाद भगवान के विश्वरूप का संदर्शन कर वैसा महदानन्द प्राप्त हुआ। वही बात उसने इस श्लोक में राजा धृतराष्ट्र से बतायी।

प्रश्न - भगवान का विश्वरूप कैसा है ?

उत्तर - अद्भुत है।

प्रश्न - उसका स्मरण करते समय सञ्जय को कैसी अनुभूति प्राप्त हुयी ?

उत्तर - (१) महान् आश्चर्य हुआ। (२) परमानन्द प्राप्त हुआ।

सम्बन्ध - इस प्रकार अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए गीता के उपदेश की और भगवान् के अद्भुत रूप की स्मृति का महत्त्व प्रकट करके, अब सञ्जय धृतराष्ट्र से पाण्डवों की विजय की निश्चित सम्भावना प्रकट करते हुए इस अध्यायका उपसंहार करते हैं -

७८. यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।

शब्दार्थ - यत्र = जहाँ। योगेश्वरः = योगेश्वर। कृष्णः = श्री कृष्ण।(तिष्ठति = रहते हैं)। यत्र = जहाँ। धनुर्धरः = धनुर्धारी। पार्थः = अर्जुन। (तिष्ठति = रहते हैं।) तत्र = वहाँ। श्रीः = लक्ष्मी। विजयः =विजय। भूतिः = ऐश्वर्य। धृवा = दृढ। नीतिः = नीति। (सन्ति इति = होते हैं)। मम = मेरा। मतिः = मत है।

भावार्थ - हे राजन्! जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है - ऐसा मेरा मत है।

व्याख्या - गीता ग्रन्थ इस श्लोक के साथ समाप्त हो गया। इस श्लोक के द्वारा स्पष्ट किया गयाा कि भगवान के समीप, शुभप्रद वातावरण बनेगा। यहाँ बताया गया कि जहाँ योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण रहेंगे और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन रहेंगे, वहाँ विजय एवं ऐश्वर्य वास करेंगे। अतः विजय, नीति एवं ज्ञान संपत्ति की कामना करनेवालों को स्मरण तथा चिन्तन के द्वारा भगवान को अपने हृदय में प्रतिष्ठित करना चाहिए। कुछ लोगों को सन्देह हो सकता है कि भगवान श्रीकृष्ण जहाँ रहेंगे, वहाँ विजय का वास होगा। ठीक है, मगर भक्त अर्जुन जहाँ रहेंगे, वहाँ भी विजय आदि का कैसे निवास होगा ? अर्जुन वास्तव में साधारण भक्त नहीं हैं। धनुर्धारी भक्त हैं। जिस प्रकार गाण्डीव से बाहरी शतृओं को जीत लिया, उसी प्रकार गीता ज्ञान मोहरहित हो गए। इस प्रकार अज्ञान से मुक्त भक्त स्वयं भगवान हो जाता है। अर्जुन साधारण भक्त नहीं हैं। वे परम भक्त एवं ज्ञानी हैं। भगवान के ही वे प्रतिरूप हैं। 'धनुर्धरः' शब्द कर्मयोग एवं निर्मल अनुष्ठान को भी सूचित करता है। इस शब्द से यह भी स्पष्ट होता है कि हर साधक को तत्वबोध के साथ अनुष्ठान में निष्णात् होना चाहिए।

कहा गया कि जहाँ श्रीकृष्ण रहेंगे, वहाँ विजय एवं ऐश्वर्य रहेंगे।इससे स्पष्ट है कि हर व्यक्ति को अपने हृदय एवं गृह में भगवान को प्रतिष्ठित कर निरंतर उनकी पूजा, अर्चना उनका ध्यान एवं स्मरण करते रहना चाहिए। इसी प्रकार समझना चाहिए कि जहाँ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य जैसी दैवी संपत्ति से युक्त महा पुरुष तथा भक्तवर निवास करेंगे, वहां धनुर्धारी अर्जुन के निवास की तरह विजय आदि का रहना निश्चित है।

हर जीव विजय चाहता है। अपजय नहीं चाहता। संपत्ति चाहता है। गरीबी नहीं चाहता। परन्तु उनकी प्राप्ति के उपाय क्या हैं ? वह उपाय इस श्लोक में बताया गया। उसे कार्यान्वित करें, तो विजय अवश्य मिलेगी। परमात्मा श्रीकृष्ण को अपने हृदय एवं गृह में स्थापित करना ही वह उपाय है। जहाँ श्रीकृष्ण रहेंगे, वहाँ विजयादि का रहनना निश्चित है। अतः भगवान की सन्निधि, सज्जनों का सांगत्य प्राप्त करते हुए श्रीकृष्णार्जुन के सांगत्यफल का अनुभव करना चाहिए।

सञ्जयने धृतराष्ट्र से स्पष्ट कह दिया कि जहाँ श्रीकृष्णार्जुन रहेंगे और धर्म रहेगा, वहाँ विजय अवश्य रहेगी। इस कथन के द्वारा सञ्जयने स्पष्ट कर दिया कि इस युद्ध में विजय पांडवों की होगी। सञ्जयने गीता के अंतिम श्लोकमें कहा कि "यत्रयोगेश्वरः" कृष्णो। यह वाक्य काफी महत्त्वपूर्ण है। भक्तजनों का कर्तव्य है कि वे बार बार इस श्लोक का स्मरण एवं पाठ करें और भगवान को अपने हृदय मे बसा लें। भगवान का अनुग्रह प्राप्त कर जीवन को आनन्दमय बना लें। भगवान श्रीकृष्ण केश्रीमुख से निसृत गीता शास्त्र का पाठ निरंतर करें। आत्मानुभूति प्राप्त कर अपने जीवन को कृतार्थ कर लें।

हरिः ऊँ तत् सत्

इति श्री मन्महाभारते शतसाहस्रिकायां संहितायां वैयासिकयां श्रीमद्भीष्मपर्वाणि श्रीमद् भागवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादे मोक्ष सन्यास योगोनाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

यह श्री व्यासमुनि के द्वारा विरचित, एक लाख श्लोकों से विलसित, छन्दोबद्ध श्री महाभारत के भीष्मपर्व में विद्यमान उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र एवं श्री कृष्णार्जुन संवादरूपी श्री भगवद्गीता का मोक्ष सन्यास योग शीर्षक अठारहवाँ अध्याय समाप्त

हरिः ऊँ तत् सत्

श्री परब्रह्मार्पणमस्तु

- ऊँ -

गीता मकरंद
भाग - 4
श्लोकों की अनुक्रमणिका

अ

	अ.	श्लो.
आदेशकाले याशनम्	१७	२२
अधर्मं धर्ममिति या	१८	३२
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य	१५	२
अधिष्ठानं तथा कर्ता	१८	१४
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्	१३	११
अध्येष्यते च य	१८	७०
अनादित्वा	१३	३१
अनिष्टमिष्टं मिश्रं टच	१८	१२
अनुद्वेगकरं वाक्यम्	१७	१५
अनुबन्धं क्षयं हिंसाम्	१८	२५
अनेकचित्तविभ्रान्ताः	१६	१६
अन्ये त्वेव मजानन्तः	१३	२५
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च	१४	१३
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो	१७	११
अभयं सत्त्वसंशुद्धिः	१६	१
अभिसंधाय तु	१७	१२
अमानित्वमदंभित्वम्	१३	७
अयुक्तः प्राकृतः	१८	२८
अविभक्तं च भूतेषु	१३	१६
अशास्त्रविहितम्	१७	५
अश्रद्धया हुतं दत्तम्	१७	२८
असक्तबुद्धिः सर्वत्र	१८	४९
असक्तिरनभिष्वङ्गः	१३	९
असत्यमप्रतिष्ठं ते	१६	८
असौ मया हतः शत्रुः	१६	१४
अहंकारं बलं दर्पम्	१६	१८
अहंकारं बलं दर्पम्	१८	५३
अहं वैश्वानरो भूत्वा	१५	१४
अहिंसा सत्यमक्रोधः	१६	२

आ

	अ.	श्लो.
आढ्योऽभिजनवानस्मि	१६	१५

	अ.	श्लो.
आत्मसंभाविताः स्तब्धा	१६	१७
आयुः सत्त्वबलारोग्य	१७	८
आशापाशशतैर्बद्धाः	१६	१२
आसुरीं योनिमापन्नाः	१६	२०
आहारस्त्वपि सर्वस्य	१७	७
इ		
इच्छाद्वेषः सुखम्	१३	६
इति गुह्यतमं शास्त्रम्	१५	२०
इति ते ज्ञानमाख्यातम्	१८	६३
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानम्	१३	१८
इत्यहं वासुदेवस्य	१८	७४
इदमद्य मया लब्धम्	१६	१३
इदं ते नातपस्काय	१८	६७
इदं शरीरं कौन्तेय	१३	१
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य	१४	२
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्	१३	८
ई		
ईश्वरः सर्वभूतानाम्	१८	६१
उ		
उत्क्रामन्तं स्थितम्	१५	१०
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः	१५	१७
उदासीनवदासीनः	१४	२३
उपद्रष्टाऽनुमन्ता च	१३	२२

ऊ	अ.	श्लो.
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था	१४	१८
ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्	१५	१
ऋ		
ऋषिभिर्बहुधा गीतम्	१३	४
ए		
एतान्यपि तु कर्माणि	१८	६
एतां दृष्टिमवष्टभ्य	१६	९
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय	१६	२२
ओ		
ओं तत्सदिति निर्देशो	१७	२३
क		
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ	१८	७२
कट्वम्ललवणात्युष्ण	१७	९
कर्मणः सुकृतस्याहुः	१४	१६
कर्शयन्तः शरीरस्थम्	१७	६
काममाश्रित्य दुष्पूरम्	१६	१०
काम्यनां कर्मणाम्	१८	२
कार्यकरणकर्तृत्वे	१३	२०
कार्यमित्येव यत्कर्म	१८	९
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम्	१८	४४
कैर्लिङ्गैस्त्रीगुणानेतान्	१४	२१
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवम्	१३	३४
क्षेतज्ञं चापि मां विद्धि	१३	२

ग	अ.	श्लो.
गामाविश्य च भूतानि	१५	१३
गुणानेतानतीत्य त्रीन्	१४	२०
च		
चिन्तामपरिमेयां	१६	११
चेतसा सर्वकर्माणि	१८	५७
ज		
ज्ञानं कर्म च कर्ता च	१८	१९
ज्ञानं ज्ञेयम् परिज्ञाता	१८	१८
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि	१३	१२
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः	१३	१७
त		
ततः पदं तत्परि	१५	४
तच्च संस्मृत्य	१८	७७
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्	१४	६
तत्रैवं सति कर्तारम्	१८	१६
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च	१३	३
तदित्यनभिसंधाय	१७	२५
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि	१४	८
तमेव शरणं गच्छ	१८	६२
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते	१६	२४
तस्मादोमित्युदाहृत्य	१७	२४

	अ.	श्लो.
तानहं द्विषतः क्रूरान्	१६	१९
तेजः क्षमा धृतिः	१६	३
त्याज्यं दोषवदित्येके	१८	३
त्रिविधा भवति श्रद्धा	१७	२
त्रिविधं नरकस्येदम्	१६	२१
द		
दम्भो दर्पो	१६	४
दातव्यमिति यद्दानम्	१७	२०
दुःखमित्येव यत्कर्म	१८	८
देवद्विजगुरुप्राज्ञ	१७	१४
दैवी संपाद्विमोक्षाय	१६	५
द्वाविमौ पुरुषौ लोके	१५	१६
द्वौ भूतसर्गौ लोके	१६	६
ध		
धृत्या यया धारयते	१८	३३
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति	१३	२४
न		
न च तस्मान्मनुष्येषु	१८	६९
न तदस्ति पृथिव्यां वा	१८	४०
न तद्भासयते सूर्यो	१५	६
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म	१८	१०
न रूपमस्येह तथो	१५	३

	अ.	श्लो.
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा	१८	७३
न हि देहभृता शक्यम्	१८	११
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्	१४	१९
निर्मानमोहा जितसङ्ग	१५	५
नियतस्यतु संन्यासः	१८	७
नियतं सङ्गरहितम्	१८	२३
निश्चयं श्रुणु मे तत्र	१८	४
प		
पञ्चैतानि महाबाहो	१८	१३
परं भूयः प्रवश्यामि	१४	१
पुरुषः प्रकृतिस्थोहि	१३	२१
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानम्	१८	२१
प्रकाशं च प्रवृतिं च	१४	२२
प्रकृतिं पुरुषं चैव	१३	१९
प्रकृत्यैव च कर्माणि	१३	२९
प्रवृतिं च निवृतिं च	१८	३०
प्रवृतिं च निवृतिं च	१६	७
ब		
बहिरन्तश्च भूतानाम्	१३	१५
बुद्धया विशुद्धया	१८	५१
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव	१८	२९
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्	१४	२७
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा	१८	५४

	अ.	श्लो.
ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्	१८	४१
भ		
भक्त्या मामभिजानाति	१८	५५
म		
मच्चितः सर्वदुर्गाणि	१८	५८
मनः प्रसादः	१७	१६
मन्मना भव मद्भक्तो	१८	६५
मम योनिर्महदब्रह्म	१४	३
ममैवांशो जीवलोके	१५	७
मयि चानन्ययोगेन	१३	१०
महाभूतान्यहंकारो	१३	५
मानापमानयोस्तुल्यः	१४	२५
मां च योऽव्यभिचारेण	१४	२६
मुक्तसङ्गोंऽनहंवादी	१८	२६
मूढग्राहेणात्मनो यत्	१७	१९
य		
य इमं परमं गुह्यम्	१८	६८
य एवं वेत्ति पुरुषम्	१३	२३
यजन्ते सात्विका देवा	१७	४
यज्ञ दानं तपः कर्म	१८	५
यज्ञे तपसि दाने च	१७	२७
यतन्तो योगिनश्चैनम्	१५	११
यतः प्रवृतिर्भूतानाम्	१८	४६

	अ.	श्लो.
यत्तदग्रे विषमिव	१८	३७
यत्तुकामेप्सुना कर्म	१८	२४
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्	१८	२२
यतुप्रत्युपकारार्थम्	१७	२१
यत्र योगेश्वर कृष्णो	१८	७८
यथा प्रकाशयत्येकः	१३	३३
यथा सर्वगतं सौक्ष्मत्	१३	३२
यदग्रेचानुबन्धे च	१८	३९
यदहंकारमाश्रित्य	१८	५९
यदादित्यगतं तेजो	१५	१२
यदा भूतपृथग्भावम्	१३	३०
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु	१४	१४
यया तु धर्मकामार्थान्	१८	३४
यया धर्म धर्म च	१८	३१
यया स्वप्नम् भयं	१८	३५
यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्	१५	१८
यस्य नाहंकृतो भावो	१८	१७
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य	१६	२३
यातयामं गतरसम्	१७	१०
यावत्संजायते किञ्चित्	१३	२६
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य	१७	१
यो मामेवमसंमूढो	१५	१९

र

	अ.	श्लो.
रजस्तमश्चाभिभूय	१४	१०
रजसि प्रलयं गत्वा	१४	१५
रजो रागात्मकं विद्धि	१४	७
रागी कर्मफलप्रेप्सुः	१८	२७
राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य	१८	७६
ल		
लोभः प्रवृत्तिरारभ्भः	१४	१२
व		
विधिहीनमसृष्टान्नम्	१७	१३
विविक्तसेवी लध्वाशी	१८	५२
विषयेन्द्रियसंयोगात्	१८	३८
व्यासप्रसादात्श्रुतवान्	१८	७५
श		
शमो दमस्तपः शौचम्	१८	४२
शरीरं यदवाप्नोति	१५	८
शरीर वाङ्मनोभिर्यत्	१८	१५
शौर्यं तेजो धृतिदक्ष्यम्	१८	४३
श्रद्धया परया तप्तम्	१७	१७
श्रद्धावाननसूयश्च	१८	७१
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः	१८	४७
श्रेत्रं चक्षुः स्पर्शनं च	१५	९

स

	अ.	श्लो.
सत्कारमानपूजार्थम्	१७	१८
सत्त्वं रजस्तम इति	१४	५
सत्त्वं सुखे संजयति	१४	९
सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्	१४	१७
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य	१७	३
सद्भावे साधुभावे च	१७	२६
समदुःखसुखः स्वस्थः	१४	२४
समं पश्यन्हि सर्वत्र	१३	२८
समं सर्वेषु भूतेषु	१३	२७
सर्वकर्माण्यपि सदा	१८	५६
सर्वगुह्यतमं भूयः	१८	६४
सर्वतः पाणिपादं तत्	१३	१३

	अ.	श्लो
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्	१४	११
सर्वधर्मान्परित्यज्य	१८	६६
सर्वभूतेषु येनैकम्	१८	२०
सर्वयोनिषु कौन्तेय	१४	४
सर्वस्य चाहं हृदि	१५	१५
सर्वेन्द्रियगुणाभासम्	१३	१४
सहजं कर्म कौन्तेय	१८	४८
सन्यासस्य महाबाहो	१८	१
सिद्धिं प्राप्तो यथा	१८	५०
सुखं त्विदानीं त्रिविधम्	१८	३६
स्वभावजेन कौन्तेय	१८	६०
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः	१८	४५

T.T.D. Religious Publications Series No. 237
Price: Rs. 20/-

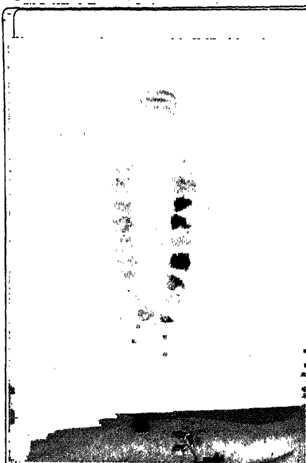

श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानन्दगिरिस्वामी

देश-विदेशों में गीता का संप्रति विस्तृत प्रचार हो रहा है। साहित्यज्ञ, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, कवि, पंडित आदि अपने-अपने दृष्टिकोणों से इस लोकोपयोगी कार्य में लगे हुए हैं। इसकी आवश्यकता को जानकर महान तपस्वी श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी द्वारा तेलुगु में विरचित 'गीता मकरंद' का हिन्दी रूपांतर तिरुमल तिरुपति देवस्थान द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। सुपरिचित एवं हिन्दी व तेलुगु भाषाओं में निष्णात तथा हैदराबाद के निवासी श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति ने इस कार्यभार को संभाला है।

'गीता मकरंद' हिन्दी अनुवाद का यह चौथा भाग है। इसमें गीता के तेरह, चौदह, पन्द्रह, सोलह, सत्रह, अठारह - अध्यायों का विवरण सहित प्रकाशन किया जा रहा है। सहृदय पाठक इसका अध्ययन कर गीतोपदेशक परब्रह्म श्रीकृष्ण एवं श्री श्री श्री विद्याप्रकाशानंदगिरि स्वामीजी के अनुग्रह का पात्र बनें।

Published by Ajeya Kallam, I.A.S., Executive Officer,
Tirumala Tirupati Devasthanams, Tirupati and Printed at
Sowbhagya Printers, Warangal on behalf of T.T.Devasthanams.